झरोखा

हरिकृष्ण कौल

हरिकृष्ण कौल

अग्नि

पराग प्रकाशन, दिल्ली-३२

मूल्य : सोलह रुपये / प्रथम संस्करण, १९८१ / आवरण : नीला चटर्जी /
प्रकाशक : पराग प्रकाशन, ३/११४, कर्ण गली, विश्वासनगर, शाहदरा,
दिल्ली-३२ / मुद्रक : शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

ARTHI (Short Stories) : Hari Krishan Kaul Rs. 16.00

क्रम

अरथी	९
राग-विराग	१९
चोर	३३
एक नंगी कहानी	४१
यह साहब : वह साहब	४९
शॉपिंग	५५
कथा जीभ की : सवाल अंडे का	६१
गुलमोहर	७३
एक दफ्तर-कथा	७८
टोपी	८८
वह दिन	९६
गर्दिश के दिन	१०८

अरथी

टार्जन की भाभी उसी वक्त चूल्हा जलाने बैठी थी। फूंकते-फूंकते उसकी सांस फूल गई थी, मगर गीली लकड़ियों और उपलों से लौ ही नहीं निकलती थी। सारी कोठरी धुएं से भर गई थी।

"साला कहां मरा पड़ा है ?" डॉक्टर ने उससे पूछा।

गीली लकड़ियों ने उसकी आंखों को भी गीला कर दिया था। डॉक्टर को देखकर वह मानो पागल हो गई। जी चाहा कि चूल्हे से अध-जली लकड़ी निकालकर इसकी और इसके दोस्त— दोनों की हड्डी-पसली तोड़ डाले। इस कड़ाके की सर्दी में भी सुबह-सवेरे उसके देवर को बहकाकर अपने साथ ले जाने के लिए आ गया है। पर साथ ही उसे खयाल आया कि इसे क्या दोष दे ? दोष तो उसकी अपनी मुर्गी का ही है जो दूसरों के घर में अण्डा देती है।

"अभी तक सोया ही है !" डॉक्टर को उसकी चुप्पी में भी जवाब मिला और वह सीढ़ियां चढ़ने लगा। चढ़ते-चढ़ते उसने सुना कि वह कुनकुना रही है। अगर उसे जल्दी न होती तो वह भी उसे खरी-खरी सुनाता।

"उठ, साले ! पैंडरो खतम हो गया।" कमरे में दाखिल होते ही उसने ऐलान किया।

बिस्तर में दुबका टार्जन अचानक उठ बैठा। बात उसकी समझ में न आयी। इतना जरूर लगा कि कहीं कुछ गड़बड़ है।

"मां मर गई साले की !" डॉक्टर उसके सिरहाने बैठ गया।

टार्जन ने बांह जरा फैला दी और खिड़की के पल्ले खोल दिए। वह अभी भी अपने ऊपर रजाई लिये बैठा था। रजाई के ऊपर एक फटा-पुराना कम्बल डाला था और कम्बल के ऊपर उसने अपना ऊनी 'फिरन' फैला दिया था। लाल छींट का तकिया बिना गिलाफ के था और न जाने उसे टार्जन के बालों का तेल चूसते कितने साल हो गए थे। दाहिनी ओर पत्र-पत्रिकाओं से काटी फिल्मी-परियों की रंगीन तसवीरें थीं और बायीं ओर सिगरेट की डिबिया, जिसमें एक अधजली ठंडी और दो साबुत सिगरेटें थीं।

"कब ?" उसने डॉक्टर से पूछा।

"कहते हैं आज तड़के !" डॉक्टर ने टार्जन की डिबिया से सिगरेट निकाली और अपनी कांगड़ी से सुलगाई, "मगर मेरा खयाल है कि बुढ़िया रात में ही ठंडी हुई होगी और साले को सुबह तक पता ही न चला होगा। साला अपने ही मजे में था।"

"बड़ा कमीना है ! हमारे बगैर ही मजा ले लिया ?"

"मुझे भी कहां मालूम था। सुना पटवारी के घर पर 'जलसा' हुआ था। अगर यह सुनोगे कि वहां कौन-कौन लोग थे तो पांव तले की जमीन खिसक जाएगी !"

"बस, साला डूब गया ! किस बदबख्त ने उसे वहां का रास्ता दिखाया ? वहां तो रात-दिन पत्तों पर पांच-पांच के नोट निछावर होते हैं।···एक सिगरेट मुझे भी देना।"

डॉक्टर ने उसकी डिबिया से ही सिगरेट निकालकर उसे पेश की।

"कांगड़ी भी देना।"

डॉक्टर ने कांगड़ी निकालकर उसे दे दी। टार्जन ने सिगरेट सुलगा-कर कांगड़ी अपनी रजाई के अन्दर रखी—

"अब तो साले की ऐश है। मां का लिहाज था सो उसने अपनी नाव का लंगर उठा लिया। अब बेचे घर और खेले पत्ते ! रोकेगा कौन ?"

"देख लेना, घर बेचकर पत्ते ही खेलेगा।"

"हां, तो हमें इस वक्त क्या करना है ?"

"उसकी बहन का कौन खसम यहां है जो बुढ़िया को मरघट ले जाए ? उठो, कमर कसो।"

"मैं तो कमर कसे ही बैठा हूं। बोल, किस-किस साले के मां-बाप को कन्धा देना है ?"

टार्जन ने उठकर 'फिरन' पहना। सिर कनटोप में छिपाया। तकिए के नीचे से जुराबों के तीन नये-पुराने जोड़े निकालकर पहने। कांगड़ी डॉक्टर के हवाले करके उससे कहा, "चल, मैं हो गया तैयार !"

"अबे, ठहर, यह सिगरेट तो पहले खत्म करने दे !"

"कर ले। अभी तक बुढ़िया ने जाने की कोई जल्दी नहीं दिखाई तो अब क्या जल्दी हो सकती है ?"

टार्जन ने ताकचे से कांगड़ी उतारी और उसे जोर-जोर से हिलाया, जिससे राख नीचे चली गई और कोयले ऊपर आ गए। उसने डॉक्टर से जलता हुआ एक कोयला मांगा और फूंक मार-मारकर अपनी कांगड़ी के कोयले सुलगाने लगा।

"कांगड़ी में नये कोयले नहीं डालोगे ?"

"बाजार में नानबाई से थोड़ी-सी आग मांग लूंगा। कांगड़ी भर कोयलों के लिए सुबह-सुबह ही किसी के ताने क्यों सुनूं ? 'स्कोर' क्या हुआ ?"

"किस साले को पता है।"

"अगर आज दिन में छह विकेट ले सकें, तो शायद जीत जाएं।"

"मैच यह जीत जाएंगे।" डॉक्टर ने उसे अंगूठा दिखाया, "जैसे बस यही एक मैच जीतना बाकी हो, बाकी सब मोर्चों पर मैदान मार लिया हो।"

दोनों कमरे से बाहर आए। लेकिन डॉक्टर फिर अन्दर चला गया। सिगरेट का अधजला टुकड़ा कान में अटकाकर वह फिर बाहर आया।

"छोड़ते क्यों ?" उसने टार्जन से कहा।

दोनों आहिस्ता-आहिस्ता सीढ़ियां उतरे। टार्जन की भाभी निचले तले की कोठरी के दरवाजे पर खड़ी थी। जब वे घर से बाहर निकले तब वह अपनी पंजाबी मिश्रित कश्मीरी में फिर कुनमुनाने लगी—"इसका क्या है ? जरा-जरा उजाला हुआ नहीं कि यह घर ते टुर पड़ा, बाबू बन

के, तेल-फुलेल मल के। मन-मन भात टिड विच डाले पर सोचता ही नहीं कोई कित्थूं आवे ? जानूं मैं, जाने मेरी तकदीर।"

"अबे, यह पंजाबी बटेर तुम्हारे भाई को कहां से मिला है ?" चलते-चलते डॉक्टर ने टार्जन से पूछा।

"चलो, जहां से भी मिला, मिला। हमें ऐसा भी नहीं मिलेगा।"

"तुम्हें नहीं मिलेगा। मेरा तो 'लव' चल रहा है।"

टार्जन ने उसे सिर से पांव तक गौर से देखा और फिर जोर से ठहाका लगाया।

बाजार से टार्जन ने नानबाई से अपनी कांगड़ी तूत के दहकते कोयलों से भरवा ली। बनिए से सिगरेट के तीन पैकेट उधार ले लिये। पैकेट फिरन की जेब में ठूंसकर उसने डॉक्टर से कहा—"अब मुझसे सारा शहर श्मशान घाट ले जाने को कहो। मैं एकदम 'रेडी' हूं।"

"नानबाई से 'स्कोर' नहीं पूछा ?"

"उसके ट्रांजिस्टर के सेल्स खत्म हो गए थे।" उसने पैकेट से दो सिगरेटें निकालीं। एक डॉक्टर को दी और एक खुद सुलगाई। डॉक्टर ने कान का अधजला सिगरेट फेंक दिया।

"मेरा खयाल था आज सारे दिन कमेण्ट्री सुनेंगे। किसे मालूम था कि यह मुसीबत आज ही आएगी ? यह बताओ, फारिग कब तक हो जाएंगे ?"

"एक-दो बजे तक।"

"कमेण्ट्री सुनें या···" टार्जन को बीच में ही कोई और बात याद आ गई और उसने डॉक्टर से पूछा—

"पड़ोसन कैसी है ?"

"बकवास !"

"मैदान वाली ?"

"वही सिर-दर्द ?"

"इस पार ?"

"कौन जाने ! कल ही तो लगी।"

"उस पार ?"

"सुना अच्छी है।"

"अगर एक बजे तक फारिग हुए तो चलेंगे, नहीं तो कमेण्ट्री सुनेंगे।"

"इस बार मैं थर्ड क्लास में नहीं बैठूंगा।"

टार्जन ने थोड़ी देर के लिए उसे घूरा और फिर कहा—"यह बालकनी में सिनेमा देखने का शौक कब से हुआ है ?"

पैडरो ने जब देखा कि मां मिट्टी में बदल गई है तब वह न रोया और न चिल्लाया। वह चुपके से पहलवान के घर गया। पहलवान ने पहले सेठ को खबर कर दी और फिर ब्राह्मण को बुलाने चला गया। रास्ते में उससे डॉक्टर का छोटा भाई मिला, उसके हाथ उसे भी समाचार भेजा। सेठ ने पचास-साठ रुपये जेब में डाले और सीधा मृत्यु-सामग्री-भण्डार की ओर चल पड़ा। जब वह वहां से सामान लाकर पैडरो के पास पहुंचा तब वह मां को पुकार-पुकारकर जोर से रोने लगा, जिससे दो-चार मुहल्ले वाले भी जमा हो गये।

एक ममेरे बहनोई को छोड़कर पैडरो का शहर में कोई रिश्तेदार नहीं था। वह भी पांच-छह मील दूर रहता था। पैडरो ने उसे खबर नहीं की। अगर खबर की होती तब भी वह नहीं आता। इस बात का पैडरो को पूरा यकीन था। दरअसल उसे शहर या गांव में रहने वाले अपने सभी रिश्तेदारों से नफरत थी। सच पूछो तो मां ही वह रस्सी थी, जिसने उसे रिश्तेदारों के साथ बांध रखा था। आज मां मरी और आज ही यह रस्सी भी टूटी। अब वह आज़ाद था। हर प्रकार से आज़ाद। अब उसके लिए रिश्तेदारों को हाथ जोड़ना जरूरी नहीं था। हर साल अपने बाप का श्राद्ध करना जरूरी नहीं था। हर रात घर लौटना जरूरी नहीं था। अब वह वही करेगा जो उसका मन चाहेगा। आज से वह खुद अपना और अपने घर का मालिक है।

घंटे-भर बाद पहलवान ब्राह्मण को साथ लेकर आया। एक मुहल्ले वाली शव के स्नान के लिए पानी गरम करने लगी। दूसरी ने आंगन के एक कोने को लीप डाला, जहां ब्राह्मण पैडरो से मां का क्रिया-कर्म कराने लगा। पैडरो ब्राह्मण के आदेशों पर अपने जनेऊ को कभी बायीं ओर और

कभी दाहिनी ओर पहन रहा था कि टार्जन और डॉक्टर आ गए।

टार्जन सीधा पैंडरो के पास चला गया और उसके कान में बोला—"रुपया-पैसा पास है ?"

"हां, है।"

"इसी मां के मरने की कसम खाओ।"

"मां की कसम, मेरे पास पैसे हैं।"

"तब ठीक है।" वह आंगन में एक तरफ औंधे पड़े ओखल पर जा बैठा। जब मां के शव को नहलाया जाने लगा तब उसने जाकर पहलवान से कहा—"असल में बुढ़िया बड़ी खुदगर्ज निकली। खुद गरमागरम पानी से नहा रही है, पर बेचारे पैंडरो से वितस्ता के बरफ जैसे ठंडे पानी में गोते लगवाएगी !"

स्नान के बाद मां को कफन पहनाकर अरथी पर रखा गया। टार्जन और सेठ ने सामने से अरथी उठाई। डॉक्टर ने तीसरा कोना अपने कन्धे पर रखा। चौथा कोना पहलवान पकड़ने वाला था कि सेठ बोला—"रे मुल्ले ! तू हाथ न लगा। हमारा मुर्दा नापाक हो जाएगा।"

"अरे, अगर बुढ़िया को मालूम हो गया कि मुसलमान उसे कन्धा दे रहा है तो वह अरथी से नीचे कूद पड़ेगी।" टार्जन ने कहा।

"लो, तुम ही सवारी दो बुढ़िया को।" पहलवान पीछे हटा—"मगर मरघट में मैयत मुसलमान ही जलाएगा। सालो, पैदा भी हमारे हाथों होते हो और राख भी हमारे ही हाथों !"

आखिर पड़ोस के एक लड़के ने चौथी ओर से अरथी उठाई और श्मशान-यात्रा शुरू हुई।

सबसे आगे पैंडरो अन्त्येष्टि का टोकरा थामे चल रहा था। उसके साथ ही सिर से पांव तक मोटी ऊनी लोई में शरीर छिपाए ब्राह्मण चल रहा था। उसे इस कड़ाके की ठंड में घर से निकलना मुश्किल हो गया था और वह मन ही मन सोच रहा था—डॉक्टर आने से इनकार कर सकता है। वकील इनकार कर सकता है। मगर लानत हो हमारे पेशे पर, हम इनकार नहीं कर सकते। और फिर कौन जाने इस दलिद्दर से कुछ मिलेगा भी या नहीं ?

पैंडरो और ब्राह्मण के पीछे-पीछे टार्जन सेठ, डॉक्टर और पड़ोस का लड़का अरथी उठाए चल रहे थे और अर्थी के पीछे-पीछे पहलवान और चन्द मुहल्ले वाले चल रहे थे। थोड़ी दूर तक अरथी के साथ चलकर मुहल्ले वाले अपने-अपने घरों को लौटे।

अन्त्येष्टि का टोकरा थामे पैंडरो नाक की सीध में जा रहा था। पहले उसने सोचा था कि मां के मरने से वह आज़ाद हो गया, मगर अब उसे लगा कि वह आज़ाद नहीं, आवारा हो गया। जो रस्सी उसे किनारे से बांधे हुए थी, वह टूट गई और अब वह ज़िन्दगी की बाढ़ में बहता रहेगा, बस बहता रहेगा। बिना कोई मंजिल या किनारा पाए, जब तक ज़िन्दा है बहता रहेगा। मां उसे गालियां और बद्दुआएं देती थी मगर कभी-कभी आशीर्वाद भी देती थी। घर के खर्च के लिए रोज-रोज उसके साथ झगड़ती थी पर महीने के आखिरी दिनों में उसे सिगरेट के लिए जाने कब से बचाये पैसे भी देती थी। अधिकतर उससे रूठी रहती थी लेकिन किसी-किसी समय उसे गले भी लगाती थी। अब न तो कोई उससे रूठेगा न ही कोई प्यार करेगा। न उसका कोई मरेगा और न ही वह किसी के लिए मरेगा ! अपने सफर में वह बिलकुल अकेला है और सफर बहुत कठिन है···

सहसा उसने पीछे पलटकर देखा और उसके पांव तले की जमीन खिसक गई ! वह इस समय सचमुच अकेला अन्त्येष्टि का टोकरा थामे चल रहा था। न उसे साथ चलता ब्राह्मण कहीं नजर आया, न मां की अरथी और न अरथी उठाने वाले। बात क्या है ? कहीं वह सपना तो नहीं देख रहा है ? श्मशान-स्वामी कोई लीला तो नहीं रच रहा है ? आखिर उसे कुछ दूर एक दूकान के पास खड़ा सिगरेट सुलगाता ब्राह्मण दिखाई दिया और उसकी जान में जान आयी ! मगर बाकी लोग कहां हैं ? उन्हें जमीन खा गई या आसमान निगल गया ?

ब्राह्मण सिगरेट सुलगाकर आया तो उसने पैंडरो को बीच सड़क परेशान-सा अकेला खड़ा पाया। उसकी समझ में भी नहीं आया कि अरथी कहां गायब हो गई। वह बोला—"सुनो, तुम्हारे भाग्य में जाने क्या देखना लिखा है ! उन राक्षसों के पांव कोहरे पर फिसल गये होंगे और शव नीचे

गिरा होगा। यह तो बहुत बुरी बात हुई।"

पैंडरो का दिल पहले ही कह रहा था कि उसे और भी बुरे दिन देखने होंगे। ब्राह्मण ने कुछ झूठ तो नहीं कहा। मगर उसका दिमाग सोच-सोचकर हार गया कि वे गये तो कहां गये? माना गिर ही पड़े होंगे। फिर भी धरती में समा नहीं जाते? ब्राह्मण अशुद्ध संस्कृत में 'क्षमा करो मेरे अपराध, शिव-शिव शम्भु, हे महादेव शम्भू' का पाठ कर रहा था। टोकरे में रखा दीया कब का बुझ गया था और उसकी अधजली बाती से धुएं की काली लकीर-सी निकल रही थी। पैंडरो हैरान और परेशान ही नहीं, भयभीत भी था।

कुछ मिनट बाद उसे बहुत दूर—सड़क के आखिरी छोर पर अरथी का धुंधला-सा आकार दिखाई दिया। उसकी जान में जान आयी। कुछ काल बाद मां की अरथी उसके निकट पहुंची।

"तीन गिरे।" निकट पहुंचकर टार्जन चिल्लाया।

ब्राह्मण की छाती धक्-से रह गई—"क्यों बे राक्षसो! क्या तीन बार शव नीचे गिरा? त्राहि-त्राहि!"

"नहीं महाराज, मेरे शेर 'चन्द्रा' ने तीन विकेट लिये—समझे?"

"साले, चुप रह।" सेठ गुस्से से अपने होंठ काट रहा था।

"रसूल-ए-पाक की कसम, हद हो गई।" पहलवान ने पैंडरो से कहा—"सुन बदबख्त, शाही पान वाले के पास पहुंचते ही टार्जन के पांव में अचानक 'ब्रेक' लगी। कमीना कमेण्ट्री सुनने लगा। हमने बहुत कहा। पान वाले ने उसके पैरों पर अपनी टोपी रखी। लोग हमें कन्धों पर ताबूत रखे कमेंट्री सुनते देखकर हमें गालियां देने लगे। मगर टार्जन के कदम ही नहीं उठे। आखिर पानवाले ने रेडियो बन्द किया।"

"भाइयो, जब बुढ़िया ने इन सत्तर सालों में मरघट पहुंचने की जल्दी नहीं दिखाई तो मेरे ही दस मिनटों से कौन-सी देर हो जाती?" टार्जन ने सफाई दी।

"इसे कहो कि जबान को लगाम दे।" क्रोध से सेठ का सारा शरीर कांप रहा था—"अगर यह चुप नहीं रहा तो मैं बुढ़िया को नीचे फेंक-कर भाग जाऊंगा।"

ब्राह्मण ने पैंडरो को डांटा—"राक्षसो, तुम आदमी हो या रीछ! मैंने कान पकड़े जो फिर कभी···मगर अब तेरा कौन है जो मरेगा?"

श्मशान में टार्जन, सेठ, डॉक्टर और पड़ोस के लड़के ने अपने कन्धों से बोझ उतारा। मरघट का मुसलमान ठेकेदार चिता बनाने लगा। पैंडरो ब्राह्मण के आदेशों की प्रतीक्षा करने लगा। तभी टार्जन बोल उठा—"सुना तुमने? इस डॉक्टर का 'लव' चल रहा है।"

सभी ठा-ठा करके हंस पड़े। फिर पहलवान ने डॉक्टर से पूछा—"प्यारे, किसके साथ?"

"मुझसे सुनो!" टार्जन ने कहा—"इसका लव अपने साहब की मेम के साथ चल रहा है।"

पड़ोस का लड़का तनिक शरमा गया।

"यह उसके घर का सारा काम करता है। उसके साड़ी-ब्लाउज धोता है। कपड़े प्रेस करता है। क्यों बे सेवा का कुछ फल भी मिलता है या यों ही···"

"मैं घूंसा मार बत्तीसी बाहर कर दूंगा। वह मेरी मां है।" डॉक्टर नाराज हो गया।

"इसे ताने क्यों देता है?" पहलवान ने टार्जन से पूछा—"तुम अपने डेरा के मालिक के घर आते-जाते नहीं हो?"

"जाये मेरी जूती!" टार्जन ने कहा—"घर जाने से वह हमें मशीन-मैन से मनेजर तो नहीं बनाएगा। हम तेरी तरह लीडर नहीं बनना चाहते थे।" फिर सब को सुनाते हुए उसने कहा—"सुना तुम लोगों ने, पहलवान ने लीडरी छोड़ दी!"

"कब से?" डॉक्टर ने हैरान होकर पूछा।

"जब से इसे पाकिस्तानी पोस्टर लगाने पर पुलिस पकड़कर ले गई। और जिन्होंने इसे यह काम सौंपा था उन्होंने बात फैला दी कि इसे जेब काटने के जुर्म में धर लिया गया था।"

सभी हंस पड़े। पहलवान के चेहरे पर क्षण-भर के लिए अप्रिय याद की छाया पड़ी।

"उठो, शव को चिता पर रखो।" ब्राह्मण की आवाज सुनकर चारों उठ खड़े हुए।

"हम तैयार हैं।" टार्जन ने कहा —"कहो तो तुम्हें भी···"

पर ब्राह्मण ने उसकी बात नहीं सुनी।

चिता से अब आग की लपटें नहीं उठ रही थीं। बस, अंगारे चटककर राख हो रहे थे। सेठ ने पैडरो के कन्धे पर हाथ रखकर कहा—"चलो, अब राख को टुकर-टुकर देखने से क्या मिलेगा।"

"चलो!" पैडरो उसका सहारा लेकर चलने लगा।

"टार्जन कहां है?" पैडरो ने पूछा।

"ब्राह्मण और उस लड़के की तरह वह भी भाग गया? कहां गया होगा?" डॉक्टर ने पूछा।

'मुझे मालूम है।" पहलवान ने कहा—"कमीना जाकर कमेण्ट्री सुन रहा होगा। मिड आन और सिली मिड आन में फर्क नहीं जानता, फिर भी बड़ा क्रिकेट का साला बनता है। बिरादरी को छोड़कर उसे नहीं जाना चाहिए था।"

"नहीं जाना चाहिए था।" सेठ ने उसका समर्थन किया।

कुछ कदम चलकर वे वहां पहुंचे, जहां मरघट की सीमा खत्म होती थी। पैडरो, डॉक्टर और सेठ ने पीछे मुड़कर बुझती चिता को प्रणाम किया। तभी पहलवान चिल्लाया—"वह देखो, उस चिनार की ओट कौन खड़ा है!"

"यह तो अपना टार्जन है।" डॉक्टर ने कहा।

चारों वापस उसके पास चले गये।

टार्जन चिनार से टेक लगाये आकाश में ठहरे धुएं की ओर एकटक देख रहा था। पैडरो ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"चलो यार, अब यहां क्या रखा है?"

टार्जन ने जोर से उसे अपने सीने के साथ भींचकर कहा—"तुमने आज अपने हाथों अपनी मां को राख कर डाला! मगर मैं तब बहुत छोटा था। बस छह-सात महीने का। मैं यह भी नहीं कर पाया।"

टार्जन और पैडरो फूट-फूटकर रोने लगे।

डॉक्टर और सेठ यह नयी स्थिति देखकर असमंजस में पड़ गये। डॉक्टर उन्हें शायद डांटता भी मगर पहलवान ने उसे इशारे से समझा दिया—'रो लेने दो। हम सब के लिए रोना बहुत जरूरी है।'

राग-विराग

जेठ की प्रचंड धूप आदमी जैसे-तैसे सहन कर सकता है पर आषाढ़ की इस उमस का क्या करे? मन करता है कि सारे कपड़े फाड़कर, बिलकुल नंगे होकर यहां से वहां और वहां से यहां फिरते रहें। बस, फिरते रहें।

कहीं से भी हवा का एक मामूली-सा झोंका नहीं आ रहा था, जैसे हवा को किसी ने क़ैद कर रखा हो। मैं उठा और खिड़की के पास आकर बैठ गया। टांगें बाहर लटका दीं। रात के ग्यारह बज चुके थे लेकिन जाने नींद कहां, कितनी दूर मुझसे रूठी बैठी थी।

गली के पार रूपजी के कमरे में गाने-बजाने की महफिल अपने जोबन पर थी। सितार, तबला, सारंगी और जाने कौन-कौन-से साज़ बज रहे थे। बीच-बीच में कुछ देर के लिए वाद्यों की आवाज़ बन्द हो जाती थी और कमरा तालियों की गड़गड़ाहट या रूपजी के ठहाकों से गूंज उठता। कुछ देर बाद फिर से वाद्यों का स्वर उभरने लगता।

रूपजी हूबहू अपने पिता की तरह ठहाके लगाता था। उसका पिता किशनचन्द भी जब हंसता था तो मुहल्ले में सो रहे बच्चों की नींद सहसा उचट जाती थी। हालांकि अब वह बूढ़ा हो गया है और उसके ठहाके कुछ खोखले हो गये हैं। मेरी चाची कहती है कि आज से दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व जब किशनचन्द हंसता था तो मुहल्ले में नयी-नयी ब्याह कर लायी गयी बहुओं की छाती धक हो उठती और गली की ओर खुलने वाली हमारी खिड़कियों के पट हिल उठते। हंसते समय भी जैसे मुए के गले में तबला बजता था।

कमरे में रूपजी गा रहा था और उसके दो साथी गिरधारी और राजनाथ तबले और सारंगी पर संगत कर रहे थे। वहां दो जने और थे, पर वे मेरे परिचित नहीं थे। हां, कमरे में हो रही बातचीत से लगा था कि एक कोई खान साहब है और दूसरा कोई पंडित। किशनचन्द मुझे कमरे में कहीं नहीं दीखा। या हो सकता है कि वह सामने वाली दीवार की ओट बैठा हो। किन्तु नहीं। उस हालत में उसकी आवाज़ या कम से कम उसकी हंसी मेरे कानों में पड़ती। शायद कुछ अस्वस्थ होगा। आदमी के साथ बुढ़ापे में छोटी-मोटी बीमारियां चिपकी ही रहती हैं।

···किशनचन्द स्वयं भी गाने-बजाने का शौकीन था। गाने-बजाने का शौकीन ही नहीं अपितु वह उन चन्द साहसी व्यक्तियों में से एक था जिन्होंने आज से चालीस-पचास वर्ष पूर्व कश्मीर में एक नाटक मंडली की स्थापना की थी। यह वह समय था जब अभिनेताओं को आर्टिस्ट या कलाकार नहीं कहा जाता था बल्कि 'रास के लौंडे' और 'बहुरुपिए' कह-कर अपमानित किया जाता था। मगर दिल के शौक़ ये भी बड़ी कोई चीज़ हो सकती है? इन लोगों ने मान-अपमान की परवाह किये बिना एक के बाद एक नाटक—सत्यवान-सावित्री, लैला-मंजनू, कृष्ण-सुदामा, शीरीं-फरहाद, सत्यवादी हरिश्चन्द्र खेले थे।

···मेरा चाचा कहता है कि नौजवानी के दिनों में उसे भी नाटकों में अभिनय करने की इच्छा हुई थी। उसने अपनी यह इच्छा किशनचन्द के आगे प्रकट की थी और किशनचन्द ने मण्डली के दफ़्तर पर उसका 'इण्टरव्यू' लिया था।

"आपने किसी बड़े दिन अपने पिता की पगड़ी उछाली है?" किशन-चन्द ने मेरे चाचा से पहला सवाल यही किया था।

"क्षमा कीजिए, आपका सवाल मेरी समझ में नहीं आया।" मेरा चाचा सचमुच परेशान हो गया था।

"मैंने पूछा कि क्या आपने किसी बड़े दिन, जैसे शिवरात्रि या नवरात्रि या उनके जन्मदिन पर अपने पिताजी की पगड़ी उछाली है?"

मेरे चाचा ने सिर हिलाकर इनकार किया था।

"अच्छा, किसी बड़े दिन पर न सही, क्या किसी छोटे दिन आपने

यह शुभ कार्य किया है?"

"कौन-सा काय?"

"अपने पिता रघुजू की पगड़ी उछालने का कार्य।"

"अपने पिता की पगड़ी कौन उछालता है?" मेरे चाचा ने किशन-चन्द से वापस सवाल किया था।

"किसी-किसी समय तो उछालनी पड़ती है। यदि आप अभी तक ऐसा नहीं कर पाये हैं तो क्या भविष्य में यह शुभ कार्य करने का आश्वासन दे सकते हैं?"

"मुझसे ऐसा ज़लील काम नहीं हो सकता।" मेरे चाचा ने क्रोध पीकर जवाब दिया था।

"फिर आप 'एक्टिंग' भी नहीं कर सकते। हमें बड़े दुःख के साथ आपकी दरख्वास्त रद्द करनी पड़ेगी।"

मेरा चाचा कहता है कि अगले दिन किशनचन्द हमारे घर आया था और उसने उसे समझाया था—"जियालालजी, तुम नाराज़ लगते हो किन्तु तुम्हें नाराज़ नहीं होना चाहिए। ज़रा सोचो, अगले महीने हमने एक नये नाटक 'अनारकली' पर काम शुरू करना है। तुमने अच्छा नाक-नक्शा पाया है। हो सकता था कि हम तुम्हें शहज़ादा सलीम का पार्ट देते। मान लो अकबर के पार्ट में मैं तुमसे कहता—'यह शहंशाहे अकबर तुम्हारे सामने खड़ा तुम्हें कोई हुकुम नहीं दे रहा है, शेखू! बल्कि एक बदनसीब बाप दामन फैलाकर अपनी औलाद से भीख मांग रहा है!' इसके जवाब में तुम्हारा डायलॉग होता—'शहंशाहे अकबर, मुहब्बत एक तूफ़ान है और अगर इसके आगे आशिक़ का बाप भी आ जाये तो यह उसके भी तिनके उड़ा देगा!' अब मान लो यह डायलॉग अदा करते समय तुम्हारी नज़र अचानक हॉल में बैठे अपने बाप रघुजू पर पड़ती। सच कहना क्या तुम यह डायलॉग बोल सकते? बाप के तिनके उड़ाने की बात मुंह से निकलने के बदले तुम्हारा पेशाब निकल जाता। इसलिए 'एक्टिंग' करने से पहले तुम्हें यह शर्म और हया भूनकर खा लेनी चाहिए। अपने बाप की पगड़ी उछालनी चाहिए।"

मेरा चाचा अपने बाप की पगड़ी नहीं उछाल सका, इसलिए उसने

नाटकों में काम नहीं किया। उसने छह महीने तक सरकार के वन विभाग में बिना वेतन की 'उम्मीदवारी' की और फिर वही बारह रुपये महीना पर क्लर्क हो गया। उसने शादी की। उसके बच्चे हुए—एक लड़का और दो लड़कियां। तीनों का विवाह किया। लड़के के लड़कों के यज्ञोपवीत पर पांच-सात हज़ार खर्च करके सभी को हैरान किया। लड़कियों के बच्चों की शादी पर हज़ारों रुपये लुटाकर ननिहाल की नाक रखी। अर्थात् उसने वही किया जो प्रत्येक शरीफ़ और खानदानी पंडित को करना चाहिए।

···मगर किशनचन्द ने सचमुच अपने पिता की पगड़ी उछाली थी। उसका पिता, सूरजकाक तिकू, उस जमाने का तहसीलदार था जब तहसीलदारी कोई अर्थ रखती थी। सारे शहर में उसका नाम आदर और आतंक से लिया जाता था। किशनचन्द उसके यहां दो शादियों और चार बेटियों के बाद पैदा हुआ था। उसकी लालसा थी कि किशनचन्द बड़ा होकर मशीर माल या कम से कम वज़ीर वज़ारत बने। मगर किशनचन्द इंट्रेंस में पास ही नहीं हो सका। जब वह तीसरी बार भी फेल हुआ तो सूरजकाक ने उसके साथ बोलना छोड़ दिया। किशनचन्द ने पिता की यह उपेक्षा तीन दिन तक चुपचाप सहन की। मगर तीन दिन के बाद उससे नहीं रहा गया। उसने बाहर सड़क पर अपने बाप के मकान के बिलकुल सामने टाट का टुकड़ा बिछाकर 'दूकान' सजाई और पान और सिगरेट बेचने लगा। सारे मुहल्ले वाले 'त्राहि-त्राहि' करने लगे। कैसे बाप के घर कैसा कपूत जन्मा! जब कोई किशनचन्द से पूछता कि यह सब क्या है तो वह बहुत भोलेपन और संजीदगी से उत्तर देता—"तहसीलदार सूरजकाक तिकू का दीवाला निकल गया। इसीलिए मुझे ही यह सब करना पड़ा ताकि बेचारे और बेचारे की पत्नी को कम से कम एक वक्त साग-भात तो मिल सके।" आखिर सूरजकाक के बड़े दामाद और किशनचन्द के मामा ने मध्यस्थ बनकर बाप-बेटे के बीच सुलह-सफाई कराई और पूरे एक हफ्ते के बाद किशनचन्द ने अपनी दूकान समेटकर अपने घर में पुनः प्रवेश किया···

रूपजी का गायन समाप्त हुआ था और अब वह सितार पर कोई

गत बजा रहा था। गिरधारी तबले पर संगत कर रहा था और राजनाथ बीच-बीच में गज से सारंगी की तारों को छेड़ता था। पंडितजी और खान साहब मस्त थे और झूम-झूमकर अपनी मस्ती का इज़हार कर रहे थे। मैं समझ गया कि ये दोनों हिन्दुस्तानी संगीत के बहुत बड़े उस्ताद होंगे और रूपजी ने उन्हें अपने यहां आमंत्रित किया होगा। खान साहब रूपजी के गायन और वादन से काफी प्रभावित हुआ था। उसके मुंह से बार-बार 'सुबहान अल्लाह!' निकलता था और वह अजीब नज़रों से पंडितजी की ओर देखता था। जैसे कह रहा हो—'मैं सोच भी नहीं सकता था कि इस नौजवान की कला में इतनी पुख्तगी होगी, इतना दर्द होगा!'

मैं यह सब अपने कमरे की खिड़की से देख रहा था। मेरा कमरा और रूपजी का कमरा बिलकुल आमने-सामने थे—बीच में बस एक गली थी। मैंने अपने कमरे की रोशनी गुल कर दी थी और उसके कमरे में चमकती ट्यूब लाइट दोपहर के उजाले का भ्रम देती थी। गर्मी के कारण तीनों खिड़कियां खुली थीं और उनके पर्दे भी हटाये गये थे। मुझे लगा कि मैं किसी हॉल के अंधेरे कोने में बैठा हूं और मेरे सामने रोशनी से जगमगाते मंच पर कोई संगीत समारोह हो रहा है। रूपजी जो गत सितार पर बजा रहा था उससे मुझ पर अजीब-सा नशा छाने लगा—हालांकि राग-रागनियों की बारीकियां समझना मेरे बूते से बाहर की बात थी। गर्मी, उमस और बेक़रारी ने मुझे जिन रस्सियों से कसा था वे ढीली पड़ने लगीं। मेरे दिल पर शीतलता-सी छाने लगी और मुझे लगा जैसे मेरी आंखों के आगे अहरबल का जलप्रपात बह रहा है। प्रपात का कलरव कानों में गूंज रहा है और दहकते कोयले से गालों पर हिमजल की फुहारें पड़ रही हैं। मेरी दृष्टि तेज बहते-भागते जल को पकड़ना चाहती है पर यह पगलाया पानी मेरी दृष्टि की पकड़ से अपने को छुड़ाकर भाग रहा है, दौड़ रहा है। परन्तु कुछ देर बाद जैसे प्रपात का नीचे बहता जल सहसा रुक गया और मैं तथा मेरे आस-पास की चट्टानें, झाड़ियां, पेड़-पौधे ऊपर उठने लगे—ऊपर, और ऊपर। मुझे नींद आने लगी।

तभी संगीत का प्रवाह सहसा कट गया और रूपजी का कमरा

तालियों से गूंज उठा। मैंने देखा, खान साहब ने रूपजी को छाती से लगाकर उसका माथा चूमा। तब रूपजी ने उठकर अलमारी खोली और वहां से प्लेटों में अखरोट और बादाम की गिरी तथा दाल-मूंगरा आदि निकाला। और फिर बोतल निकाली। राजनाथ मेज पर रखे गिलास उठा लाया। गिरधारी ने जाने कहां से कुछ सेब निकाले और उन्हें छीलने लगा।

अचानक मेरी दृष्टि नीचे उनके बरामदे की ओर गई। वहां मैंने किशनचन्द को ढीला-ढाला 'पोछ' पहने देखा। वह दोनों हाथों से अपना सिर थामे बैठा था। मुझे यह सब अजीब, अविश्वसनीय लगा। ऊपर रूपजी के कमरे में साज-संगीत की महफिल जमी हो और नीचे बरामदे में किशनचन्द हाथों से सिर थामे उदास बैठा हो—यह एक अभूत-पूर्व बात थी। एक असम्भव बात, जो सम्भव बनी थी। शायद यह गाना-बजाना इस समय उसे पसन्द न हो। मगर क्यों ? वह स्वयं इस कला का मतवाला था। शायद उसे संगीत नहीं, शराब नापसन्द है। पर उसने खुद कब शराब से परहेज किया है ? मेरी चाची ने एक दिन, बहुत पहले, मुझसे कहा था—'एक शाम कोई छह-सात बजे किशनचन्द हमारे घर आकर तुम्हारे लाला साहब से बतियाने लगा। मेरी शादी हुए यही कोई तीन-चार साल हुए थे। उन दिनों किशनचन्द काफी गोरा था और नीली आंखों के कारण बिलकुल अंग्रेज जैसा लगता था। उस दिन मुझे लगा कि उसका चेहरा कुछ अधिक गोरा और लाल है तथा आंखों की चमक अधिक तेज हो गई है। कुछ देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद वह गाने लगा। तेरा लाला साहब तो जल्दी ही ऊब गया। मगर किशनचन्द के गाने की आवाज मेरे मन को जैसे भेदने लगी। मैंने जलते चूल्हे से लकड़ी बाहर खींच ली और हथेली पर ठुड्डी रखकर उसका गाना सुनने लगी। ऐसे लगा जैसे उसके मुख में सरस्वती आकर बैठ गई है और गले में घुंघरू बज रहे हैं। तभी मुझे ध्यान आया कि यह थोड़े ही किसी मलेच्छ के घर में आया है। मैंने उसके लिए समावार में चाय बनायी। ऊपर अपने कमरे में जाकर मैंने पिटारी खोली और बादाम और इलायची निकालकर चाय में डाल दी। कांसे की प्याली में यही चाय जब

मैं किशनचन्द के आगे लायी तो उसने लेने से इनकार किया। फिरन की बांह को ही घूंघट बनाकर मैंने अपनी ओर से काफी अनुनय-विनय की। पर उसने चाय की प्याली की ओर देखा तक नहीं। तेरे लाला साहब ने भी जब आग्रह किया तो वह उठा और पांव में खड़ाऊं डालकर चल पड़ा। उसके जाने पर तेरे लाला साहब ने कहा—'यह मरदूद तेरी चाय कैसे पीता ? कमबख्त शराब पीकर आया था !' 'जाने तेरे लाला साहब को क्या दिखाई दिया। मुझे नहीं लगा कि वह शराब पीकर आया था। जिसने शराब पी हो उसके मुख से थोड़े ही ऐसी वाणी निकलती ! शराब से आदमी की मति मारी जाती है, वह गालियां बकता है, गीत नहीं गाता है। मुझे नहीं लगा कि उसने शराब पी थी। और अगर पी थी तो भी क्या हुआ ? तेरी और नाथजी की कसम खाती हूं, वह चाय की प्याली मैंने तीन दिन तक वैसे ही रखी। दिल नहीं माना कि किसी और को दूं या फेंक दूं...'

मैंने खुद किशनचन्द को कई बार शराब पीते देखा था। मगर शराब पीने में क्या बुराई है ? यदि मेरे पास भी पैसे होते तो मैं भी पीता। मगर मैं बेकार हूं। सिर्फ बेकार ही नहीं, यतीम और बेसहारा भी हूं। मेरे चाचा, और चाचा से अधिक चाची का मुझ पर यही बड़ा एहसान है कि वे मुझे दोनों वक्त खाना देते हैं। शराब वही पीयेगा, जिसके पास पैसे हों।

पैसा किशनचन्द के पास था। पैसा रूपजी के पास है। किशनचन्द ने कहीं कोई नौकरी भी नहीं की थी मगर रूपजी एक लैक्चरर है। उसकी पत्नी भी कहीं टीचर है। और फिर दादा-परदादा की जमीन-जायदाद भी है ही। वह शराब नहीं पियेगा तो कौन पियेगा ? किशनचन्द को इस बात पर नाराज नहीं होना चाहिए। शायद वह इस बात पर नाराज नहीं है। कोई और ही मामला दीखता है।

दीखता है तो दीखे। मुझे उससे क्या लेना-देना है ? मैं क्यों दूसरों के बारे में व्यर्थ की बातें सोचकर अपना दिमाग परेशान करूं ? मगर नहीं। मुझे नींद नहीं आती। इसलिए मुझे अपना दिमाग व्यस्त रखना है। कुछ न कुछ सोचना है। सारे दिन मैं अपनी मुसीबतों के बारे में सोचता था।

इस समय दूसरों के बारे में सोच रहा हूं तो क्या बुरा कर रहा हूं ? मुझे किसी न किसी तरह यह रात गुजारनी है···

किशनचंद की पत्नी अरुंधती भी आकर अपने पति के निकट बैठ गयी।···जब किशनचंद का विवाह अरुंधती के साथ हुआ तो लगभग वह तीस बरस का था। अरुंधती की आयु उस समय मुश्किल से पन्द्रह-सोलह साल रही होगी। किशनचंद उन दिनों भी तीस बरस तक कुंआरा रहा था। जब बारह-तेरह साल के कश्मीरी पंडित लड़कों को भी बिहाया जाता था। मालूम नहीं वह खुद विवाह करने से कतराता था, या उसके पिता की दहेज आदि की मांग बहुत ज्यादा थी, या कोई भलामानस आवारा किशनचंद को अपनी लड़की देने के लिए तैयार नहीं होता था। कहते हैं कि एक दिन वह उत्तरसू गांव गया जहां उनकी पुश्तैनी ज़मीन-जागीर थी और तीसरे दिन वहां से बीवी साथ लेकर लौटा था। किसी का कहना था कि अरुंधती विधवा थी। किसी का कहना था कि वह विधवा नहीं, परित्यक्ता थी। कोई-कोई यह भी कहता था कि अरुंधती न विधवा थी और न परित्यक्ता। वास्तव में वह नीच जाति की थी। किशनचंद ने उसे नाले में नहाते देखा था और पांच सौ रुपये में खरीद लिया था। सचाई जो भी रही हो, सूरजकाक किसी को मुंह दिखाने के लायक नहीं रहा था। उसने यह निश्चय किया कि वह किशनचंद को अपने घर से निकालकर उसे अपनी जायदाद के अधिकार से वंचित करेगा। मगर उससे पहले ही किशनचंद ने खुद अपना घर छोड़ा और अपनी बीवी को लेकर पड़ोस की एक बेसहारा वृद्धा के यहां रहने लगा। सूरजकाक की मृत्यु से केवल दो दिन पहले वह अपने घर वापस गया था। सो भी तब जब सारे सम्बन्धियों और पड़ोसियों ने उसके पांव पकड़े कि वह मरते पिता के मुंह में दो बूंद पानी डाले।

'इस अरुंधती की भी क्या किस्मत थी !' मेरी चाची अकसर कहा करती थी—'यदि किशनचंद ने चोर-लगन करके उसे अपने घर में नहीं बिठाया होता तो कहीं कुत्तों की तरह मारी-मारी फिरती होती। सारा दिन किसी अनाम-अपरिचित गांव में उपले थापती होती। देखो किशनचंद ने उसे कैसे रानी बनाकर रखा है ! कैसे उसे प्यार करता है ! ठीक है कभी-

कभी उसे पीटता भी है। लात-घूंसों से उसका बुरा हाल भी करता है। लेकिन मैंने बहुत बार अपनी आंखों से देखा है कि किशनचंद अरुंधती को अपने साथ सटाकर हाथ से उसे कोफ्ता-रोगन जोश खिला रहा है। एक वह है और एक है तेरा लाला साहब। यह न प्यार जानता है और न पिटाई। यह न इस लोक का है और न उस लोक का ···'

रूपजी ने बोतल का ढक्कन फिर खोला और गिलासों में थोड़ी-थोड़ी शराब और डाली। दो-तीन घूंट पीने के बाद खान साहब ने अपने गिलास से थोड़ी-सी शराब रूपजी के गिलास में उंड़ेली। रूपजी ने गिलास आंखों से लगाया और फिर उसे एक ही घूंट में खाली कर दिया। खान साहब ने रूपजी को छाती से लगाया और उसकी छाती से लगकर रूपजी रोने लगा। उसकी आंखों से अश्रुधारा बहने लगी।

नीचे बरामदे में किशनचंद और उसकी बीवी दोनों गुमसुम बैठे थे। कब तक ये इस प्रकार रूठा रहेगा ? मैं सोचने लगा। जाने क्यों और कैसे मुझे यह लगा किशनचंद की यह नाराजगी अब अधिक देर तक नहीं टिकेगी। कुछ क्षण बाद ही वह उठेगा और उस प्रकार रूपजी के कमरे में प्रवेश करेगा जैसे भेड़-बकरियों के रेवड़ में कोई शेर आ गया हो। एक करारी लात मारकर रूपजी से कहेगा—'तू शराब पीना क्या जाने ? जा-जा, अपनी मां की छातियां चूसकर दूध पी।' फिर खान साहब से कहेगा, 'आओ खान साहब, हमारे साथ पियो।' और तब अपने 'पोछ' की जेब से ठर्रे की बोतल निकालेगा। एक-चौथाई खान साहब के गिलास में डालेगा और तीन-चौथाई खुद बोतल से ही गट-गट पी जायेगा। गिरधारी को धक्का देकर उससे तबला छीन लेगा। फिर कुछ इस अंदाज से तबला बजायेगा कि सारा मुहल्ला हिल उठेगा—धा-धा तिरकिट, धा-धा तूना ! फिर उसके हाथों की गति तेज हो जायेगी और चारों दिशाएं नाचने लगेंगी —नगिन-नगिन तिकट धिनक !

जिस किशनचंद को मैं जानता था, उससे यही आशा थी। मगर आज ऐसा नहीं हुआ। किशनचंद वैसे ही सिर थामे उदास बैठा रहा। अरुंधती शायद उससे कुछ कहना चाहती थी पर कहने का साहस जुटा नहीं पा रही थी। आखिर सारी हिम्मत बटोरकर उसने ये शब्द कह ही डाले—"चलिए,

अब सो लीजिए। कब तक ऐसे बैठे रहेंगे ?"

"चुप रह, हरामी रांड !" किशनचन्द उस पर बरसा—"तुझे अगर नींद आयी है तो जाकर सोती क्यों नहीं ? टांगों में टांगें फंसाए बिना नींद नहीं आयेगी क्या ?"

"बेचारी शीलाजी रसोई में बैठी अपनी किस्मत को रो रही है और मैं जाकर पलंग पर सोऊं ? मैं उसके मुख की ओर नज़र उठाकर देख नहीं सकती। मेरा कलेजा मुंह को आता है !" अरुंधती साड़ी के पल्ले से आंखें पोंछने लगी।

"बिट्टू और लवली सो गये क्या ?" किशनचन्द ने पूछा।

"मैंने दोनों को सुला दिया। लवली ने कुछ भी नहीं खाया। बेचारी भूखी ही सो गयी।"

"भूखी न सोयेगी तो क्या करेगी। मेरे घर में जन्म जो लिया है।"

मैं उठा और चारपाई पर लेट गया। परन्तु बेचैनी में कोई कमी नहीं हुई। जाने यह दमघोंटू गर्मी और कितने दिन रहेगी ? जाने कब बारिश होगी ? कितने खुश हो जाते हैं हम गरमी का मौसम शुरू होने पर। जाड़े की ठिठुरती जकड़ से छूटकर मुक्ति की सांस लेते हैं। किन्तु फिर यही ग्रीष्मकाल हमारे लिए मुसीबत बनता है। इसकी सारी सुन्दरता और सरसता जाने कहां चली जाती है और यह हमारी छाती पर चट्टान बनकर सवार हो जाता है। हमारा दम घुटता है। मैंने उठकर पानी का एक पूरा गिलास पी लिया। मगर पानी भी जैसे उबला हुआ था। मैंने बत्ती जलाई और शरीर को फिर चारपाई पर गिरा दिया।

···रूपजी भी बचपन से ही गाने के पीछे पागल था। गाना-बजाना उसके खून में, उसके रोम-रोम में व्याप्त था। बी० एस-सी० पास करने के बाद उसके पिता ने इंजीनियरिंग की पढ़ाई के लिए उसे रुड़की भेजा। परन्तु वह डेढ़ वर्ष तक पहले ही सेमिस्टर को पार न कर पाया। बाद में पता चला कि वह कॉलेज, या अपने होस्टल में कम ही बैठता था और ज्यादा समय उन्नीस मील दूर हरिद्वार में किसी साधु के आश्रम में बैठकर खंजड़ी और मंजीरा बजाया करता था। आखिर किशनचन्द उसे वहां से वापस बुला लाया और फिर कुछ समय के बाद उसे केमिस्ट्री में एम०एस-सी० करने के लिए चण्डीगढ़ भेजा। जाने कौन-सा आकर्षण था जिसने रूपजी को दो वर्ष तक चण्डीगढ़ में ही रोके रखा और उसने फाइनल की परीक्षा सेकण्ड डिवीजन में पास की। बस प्रैक्टिकल परीक्षा में उसने एक अजीब-सी हरकत की थी। उसका भाग्य अच्छा था जो इस हरकत से कोई नुकसान नहीं हुआ, उल्टे कुछ फायदा ही हुआ। सुना है कि वह लैब में 'प्रैक्टिकल' में व्यस्त और मस्त था कि बाहर कहीं से कोई ट्रांजिस्टर बज उठा। कोई जाना-माना उस्ताद ठुमरी गा रहा था। रूपजी को याद ही नहीं रहा कि वह एम० एस-सी० फाइनल पास करने के लिए प्रैक्टिकल का टेस्ट दे रहा है। वह ट्रांजिस्टर से निकलने वाली स्वर-लहरियों के साथ बहने लगा। तभी एग्जामिनर उसके पास आकर उससे कुछ पूछने लगा। मगर रूपजी ने होंठों पर उंगली रखकर उसे चुप रहने का इशारा किया। एग्जामिनर को बुरा लगा। मगर तभी गायक ने नाचते-थिरकते स्वर में 'अब के सावन घर आ' गाते हुए 'आ' पर इस प्रकार 'सम' दिया कि रूपजी अपने को रोक नहीं सका। उसने झूमते हुए दाहिनी हथेली से टेबुल पर इस तरह तबला बजाया कि एसिड भरा टेस्ट ट्यूब लुढ़क गया। रूपजी के दोनों हाथ जल गये। लैब में काम करनेवाले सभी लोग सकते में आ गये। रूपजी को तुरन्त अस्पताल ले जाया गया और एग्जामिनर ने पसीजकर उसे अच्छे नम्बर देकर पास किया।

एम० एस-सी० पास करके श्रीनगर लौटने पर रूपजी ने नौकरी के लिए कोई दौड़-धूप नहीं की। उसने बाज़ार में अवकाफ़ से एक कमरा किराये पर लिया और 'रूप संगीत निकेतन' के नाम से एक संगीत विद्यालय खोला। यह देखकर किशनचन्द कैसे खुश हो सकता था ? उसने बेटे को समझाया था—"देखो, मेरी बात अलग थी। मैं अनपढ़ था, आवारा था। तुमने एम० एस-सी० पास किया है। मैं तुमसे संगीत छोड़ने के लिए नहीं कहता हूं। मेरी दृष्टि में तो संगीत सबसे ऊंची कला है। माता सरस्वती की पूजा है। पर बीच बाज़ार के गाना-बजाना तो शर्म की ही बात है। आखिर हमें भी किसी भले आदमी की बेटी अपने घर ले आनी है। खैर, तुम्हारी चिन्ता छोड़ भी दें, लेकिन उषा की चिंता कैसे छोड़ सकते हैं। उस बेचारी को भी तो किसी के घर भेजना है···। हम

भी सूरजकाक तिकू के खानदान के हैं···"

मगर रूपजी माने, तब ना! वह दिन-भर राजनाथ, गिरधारी, ब्रजभान और खुरशीद पीर के साथ 'रूप संगीत निकेतन' में बैठा रहता और शाम को सिविल लाइंस में किसी सिख लड़की को संगीत सिखाने चला जाता। मगर किशनचन्द उसकी नौकरी के लिए दौड़-धूप करता रहा। कभी किसी अफसर से मिलता, कभी किसी मिनिस्टर की कोठी पर हाजिरी देता। एक दिन अरुंधती हमारे यहां प्रसाद लेकर आयी। उसने बताया कि रूपजी शहर के एक सरकारी कॉलेज में लैक्चरर लग गया। उस रात चाची मेरे चाचा से लड़ पड़ी थी···अब तो यह नहीं कहोगे कि किशनचन्द ने अपने बच्चों को बिगाड़ लिया। देखा किस तरह बेटे को कॉलेज में लैक्चरर लगवाया। एक तुम हो कि नाथजी की मामूली तरक्की के लिए कुछ नहीं कर सकते। वैसे कौन होगा जो तुम्हारी सिफारिश मानेगा? किशनचन्द की बात अलग है। उसे सारी दुनिया जानती है। एक दिन अखबार में उसका सितार बजाते हुए फोटो भी छपा था। और तुम हो कि इस गली की तीसरी दूकान से आगे कोई तुम्हारा नाम तक नहीं जानता है···

मैं उठा और फिर खिड़की के पास आकर बैठ गया। किशनचन्द के घर का बरामदा इस समय खाली था। किशनचन्द और उसकी बीवी दोनों भीतर चले गये थे। रूपजी के कमरे में अब पंडितजी गा रहा था और तबले पर रूपजी खुद संगत कर रहा था। जाने पंडितजी क्या गा रहा था? मेरे पल्ले केवल गीत की एक आधी-अधूरी कड़ी पड़ती थी—'लागे नाहीं नैन'। इन्हीं तीन शब्दों को मेरे कान सुन पाते थे, मेरा मस्तिष्क ग्रहण कर पाता था। मेरी बेचैनी बढ़ने लगी। मगर कर भी क्या सकता था? बेकरारी एक पल के लिए भी मुझसे दूर नहीं होती थी। दूसरी ओर आधी रात बीत जाने के बावजूद नींद कहीं दूर मुझसे रूठी बैठी थी—लागे नाहीं नैन!

सहसा मुझे एक अजीब-सी चीख सुनाई दी और फिर किशनचन्द के शब्द कानों में पड़े—'शीलाजी! शीलाजी! आंखें खोलो। लो, पानी पीओ!' मैं समझ गया कि रूपजी की पत्नी को फिर दौड़ा पड़ा होगा।

सारा मुहल्ला जानता था कि रूपजी यह शादी नहीं करना चाहता था। मगर उसके मां-बाप ने और उनसे ज्यादा बहन और बहनोई ने उसे इसके लिए मजबूर किया था। रूपजी का ससुर डिप्टी सेक्रेटरी था। मैंने सुना था कि उसकी कोशिशों से ही रूपजी लैक्चरर बना था। कहने वाले यहां तक कहते हैं कि पहले लगन की तिथि निश्चित हुई थी और तब रूपजी की लैक्चररी का आर्डर निकला था। किशनचन्द ने बड़ी धूमधाम से रूपजी की शादी की थी। पूरे सप्ताह दावतें चलती रहीं। जिस दिन घर में बहू आ गयी थी उस दिन किशनचन्द ने अपने मकान को रंग-बिरंगी रौशनियों से सजाया था। मेरी चाची भी बहू देखने गई थी। मगर वह उसे बिलकुल पसंद नहीं आयी थी। लौटकर उसने मुझसे कहा था— 'हाय, आज किशनचन्द किशनचन्द नहीं रहा। हाय! किस रूपजी के गले उसने कैसी बला डाली! हाय! दान-दहेज और धन-दौलत! हाय! रे किशनचन्द···"

किशनचन्द हुक्का लेकर बरामदे में आया। वह इस प्रकार हुक्का गुड़गुड़ाने लगा जैसे रूपजी के कमरे में बजने वाले वाद्यों के साथ जल-तरंग बजा रहा हो। मुझे लगा कि उस पर कुछ नशा-सा छा रहा है पर तभी अरुंधती बरामदे में आयी और वह जैसे सहसा जाग पड़ा। उसने पत्नी से पूछा, "आ गई होश में?"

"हां, आ गई! मैंने कहा कि जाकर हमारे कमरे में आराम करे! मगर यह मानती ही नहीं है!" अरुंधती ने उत्तर दिया।

"मालूम नहीं किस दिन यह इसी बेहोशी की हालत में खत्म हो जाये।"

अरुंधती ने भी आह भरी।

"मुझे लगता है कि इस बेचारी का सारा पाप मेरे सिर है। यह बदबख्त इसके योग्य नहीं था। दरअसल में ही व्यर्थ अड़ गया। उस सिख लड़की को साथ लेकर इसे जहन्नुम में जाने देता···"

"मैं उसकी बोटियां चील-कौओं को खिला देती यदि वह हमारे द्वार के भीतर कदम रखने का साहस करती!" अरुंधती ने कहा—"मैं अपने खानदान की नाक क्यों कटवाती? दूध के मटके में मूत्र की बूंद क्यों

डालती ?"

ऊपर रूपजी के कमरे से जोर-जोर से तालियों की आवाज़ आयी। पंडितजी का गायन समाप्त हुआ था और अब खान साहब सितार बजाने लगा था। उसकी उंगलियां मानो तारों को नहीं छेड़ रही थीं बल्कि स्वरों के आरोह-अवरोह के साथ नृत्य कर रही थीं। तबले पर पंडितजी संगत कर रहा था। जाने क्यों खान साहब के राग ने मेरे सोये-दबे विराग को फिर से जगा दिया। जाने क्यों मुझे लगा कि मेरे मन में युगों से दबी चीख सारे संयम तोड़कर निकल पड़ेगी। मेरा सारा धैर्य छूट गया। कमरे के अन्दर आकर मैंने अपना शरीर खाट पर गिरा दिया। रात भी ढलने लगी थी। मगर मेरी बेकरारी जैसी की तैसी थी। पहले यदि मेरी रात कभी आंखों में कटती थी तो भी सुबह के समय आंख लग ही जाती थी। मगर आज नींद सचमुच किसी जगह मुझसे रूठी बैठी थी। गर्मी और उमस में कोई भी कमी नहीं हुई थी। सच पूछो तो यह मौसम ही ऐसा है। यदि दिन आदमी को भून डालता है तो रात उसे उबालती है। यदि शाम को उसका दम घुटता है तो सुबह के समय उसका धैर्य ही छूट जाता है।

चोर

हज़रत, समय यही एक बजे रात रहा होगा। दिन-भर का थका-मांदा मैं लाश जैसा पड़ा था कि बीवी ने जगाया। मुझे बहुत बुरा लगा। नहीं लगता ? मैं उस पर बरस पड़ा, 'बोल री, कौन-सी कयामत आयी है ?' उसने कहा, 'इतना सारा शोर नहीं सुनाई दिया ? मालूम होता है मुहल्ले में कहीं आग लगी है।' लो साहब, अब मेरे दिमाग में घुसा गुस्सा कहां रहता ? मैं बिस्तर से बाहर आया। जल्दी-जल्दी चप्पल पहनी और बाहर सड़क पर आ गया। सड़क पर मैंने लोगों का हजूम देखा। काफी शोर था। मगर यह शोर आग लगने के शोर से भिन्न था। मेरी जान में जान आयी। नहीं आती ? आंखें मलता हुआ मैं भी हजूम के निकट पहुंचा। धत् तेरे की ! इन लोगों ने एक चोर को पकड़ा था और उसे बुरी तरह पीट रहे थे। कोई थप्पड़ लगाता था, कोई लात मारता था तो कोई घूंसा लगाता था। अरे, इतने में ही किसी साले ने चोर के माथे पर अपने सिर से ऐसी टक्कर मारी कि चोर बेचारा चारों खाने चित। मैं समझा कि किस्सा ही खत्म हो गया ! नहीं समझता ? मैंने पीटने वालों को फटकारा। नहीं फटकारता ? कहा—'अरे मरदूदो, क्या तुम इसे अब जान से ही मार डालोगे ? अगर तुमने इसे चोरी करते पकड़ा है तो पुलिस के हवाले क्यों नहीं करते ? इसे अधमुआ करने का तुम्हें क्या अधिकार है ?' मेरी बातें सुनकर चोर जैसे यकायक जिन्दा हो गया—असल में उसने भी स्वांग ही रचा था। वह दिल खोलकर मुझे दुआएं देने लगा—जा, खुदा

तुझे आबाद रखे। जा, तेरी सेहत बनी रहे ! जा तू···

अबे, तू यह किताब लेकर क्या बैठा है ? मैं क्या बकवास कर रहा हूं। क्या कहा ? क्लास लेनी है। क्लास लेनी है तो क्या हुआ ? किसने कहा है कि क्लास में जाने से पहले जरूर 'लेसन' पर नजर डालनी चाहिए ? मेरी भी पन्द्रह साल सर्विस है। तेरे मरने की कसम, अगर मैंने क्लास लेने से पहले कभी किताब खोलकर देखी हो। कभी जरूरत ही नहीं पड़ी। कर दे किताब बन्द। हां, ऐसे ही। ··· हां, तो मैं क्या कह रहा था ? हां, याद आया। मैंने उन लोगों से कहा कि वे चोर को पुलिस के हवाले करें। कुछ लोगों ने मेरी बात मानी, कुछ लोगों ने नहीं मानी। मगर आखिर में यही फैसला हुआ कि चोर को पुलिस के हवाले किया जाए। दो आदमी थाने पर गये और वहां से अपने साथ तीन सिपाही ले आये। सिपाही चोर को लेकर चले गये और लोगों ने भी अपने-अपने घरों की राह ली।

एक सप्ताह बीत गया। एक दिन मैं कॉलेज जाने के लिए घर से निकल ही रहा था कि पांच-छह मुहल्ले वाले मेरे पास आये। मैंने उनसे आने का कारण पूछा। उनमें से एक बोल उठा—'गुलाम नबी साहब, उस दिन आपने ही इस बात पर जोर दिया था कि चोर को पुलिस के हवाले किया जाये। देखिये, इतने दिन बीत गये। पुलिसवालों ने कौन-सी कार्रवाई की ? आप नहीं जानते, इन चोरों और पुलिसवालों का आपस में दस आने छह आने वाला हिसाब होता है।' थोड़ी देर सोचकर मैंने उनसे पूछा कि इन दिनों वहां का थानेदार कौन है ? उन्होंने बताया कि थानेदार मुहल्ला कावडारा का कोई बशीर अहमद है। मैं समझ गया कि यह कोई और नहीं, अपना बचपन का यार बशीर लाला होगा। हम सातवीं जमात में एक साथ दिलावर खां के बाग वाले स्कूल में पढ़ा करते थे। रैणा साहब के सामने कहते मुंह शर्म से झुलस जाता है, मैं, रहीम, गुजरी और एक लड़का—हम चारों इस बशीरे को हर जुम्मे के दिन नाले के उस पार ले जाते थे। जी हां, बचपन में हम भी पठानों का शौक रखते थे। खैर ! उस दिन शाम को मैं थाने पर बशीर अहमद से मिला। खुदा के सामने जवाब देना है, अतः झूठ क्यों बोलूं ? बशीर लाला ने मेरी

बहुत खातिरदारी की। उसने मुझे चाय पिलाई। चाय के साथ बाकिरखानी और अण्डा खिलाया। असल में बचपन की मुहब्बत कभी मरती नहीं। खैर, चाय पीकर मैंने उसके साथ मतलब की बात की। उसने कहा—'मानता हूं कि तुम लोगों ने सचमुच चोर को रंगे हाथों पकड़ा। मगर सबूत क्या है ? हम तब तक कोई कार्रवाई नहीं कर सकते जब तक हमारे पास कोई पक्का सबूत न हो।' मैंने कहा कि इस बात के इतने लोग गवाह हैं और क्या चाहिए ? उसने कहा—'केवल गवाही से काम नहीं चलेगा। कोई पक्का सबूत होना चाहिए। तुम मुहल्लेवालों से चन्द-एक चीजें इकट्ठी करने के लिए कहो। मसलन कोई शाल-दुशाला, सूट, एक-आध जेवर, ट्रांजिस्टर या घड़ी. दस-बीस किलो वजनी तांबे के बर्तन। हम 'केस' बनायेंगे कि चोर इस माले-मसरूका के साथ पकड़ा गया। इससे कानूनी पक्ष दृढ़ हो जायेगा और चोर को सजा मिलेगी। उसके बाद वे अपनी चीजें वापस ले सकते हैं।' मुझे लगा कि बशीर लाला उचित ही कह रहा है और मैंने घर आकर यह बात मुहल्लेवालों से कही। नहीं कहता ? हां, यह बताना मैं भूल गया कि जिस समय मैं बशीर लाला के कमरे से बाहर निकला, मैंने उस चोर को बरामदे में चटाई पर बैठकर सिघाड़े के पकोड़े खाते और दो सिपाहियों के साथ किसी अजीज राथर की बहू के बारे में बतियाते देखा। उसने ज्योंही मुझे देखा, बड़े आदर-भाव के साथ खड़ा हो गया जैसे मैं उसका बाप था। वह मुझे भांडों की तरह दुआएं देने लगा—'खुदा करे तू फले और फूले। यदि तू उनसे नहीं कहता कि मुझे पुलिस के हवाले करें तो वे साले मेरे पुर्जे उड़ा देते। मेरी बोटी-बोटी नोचकर कुत्तों के आगे डाल देते।' मुझे यह सुनना अच्छा लगा। मैंने कहा, 'यह मेरा फर्ज था।' सच कहता हूं कि सिंघाड़े के पकौड़े देखकर मेरे मुंह में पानी भर आया। नहीं आता ? जी में आया कि उससे एक-दो पकौड़े मांग ही लूं। मगर डरा कि कहीं वह यह न सोचे कि मास्टर लोग सचमुच भुक्खड़ होते हैं। मैं मन मसोसकर रह गया।

बशीर लाले के साथ हुई बातें जब मैंने मुहल्लेवालों को बताईं तो उन्हें जैसे गोली लगी। एक ने कहा—गुलाम नबी साहब, माफ करें, या आप खुद उल्लू हैं या हमें उल्लू बना रहे हैं। इससे पहले भी इसी तरह

हमने एक चोर को पकड़ा—आप उन दिनों अनन्तनाग में थे—और इसी तरह बशीर अहमद थानेदार ने हमें कुछ कीमती चीजें इकट्ठी करने का परामर्श दिया। फिर क्या होना था ? न ही चोर को सजा मिली और न ही हमें वे चीजें वापस मिलीं। वे सारी चीजें बशीर अहमद खुद ले गया। उनकी बातों से मुझे लगा कि वे झूठ नहीं बोल रहे हैं और मैं तत्काल थाने पर गया। नहीं जाता ? वहां पहुंचकर मैं बशीर लाले पर बरस हो ? पड़ा। मैंने उससे कहा, 'बेईमान कहीं के ! क्या अब यह भी करने लगे इससे बेहतर है भीख मांगो।' चाहा कि यह भी कह डालूं, 'साले, अगर तुम्हें शाल-दुशाला या ट्रांजिस्टर चाहिए तो मेरे साथ नाले के उस पार चलो। इस उम्र में भी ऐश कराऊंगा।' मगर चुप रहा। बेचारे बशीर लाले ने कुरान की कसम खाकर और कलमा पढ़कर कहा कि वे चीजें उसे नहीं, चोर को मिलीं। मैंने कहा—'क्या बकते हो ?' उसने कहा—'बकता नहीं, सच कहता हूं। अदालत में चोर के खिलाफ केस साबित ही नहीं हुआ। कानून में बड़ी बारीकियां होती हैं। चोर ने कहा कि वह सामान माले-मसरूका नहीं, उसका अपना सामान है और जज उसके साथ सहमत हुआ। हम क्या कर सकते थे ?'

की गल है ओ नामा सिंघा ? क्या कहते हैं ? मेरी क्लास है ? घंटी बज गई क्या ? अच्छा कह दो इससे मैं आज क्लास नहीं लूंगा। आज छुट्टी मनायें। मगर कह दो कोई हंगामा खड़ा न करें। क्या कहा ? 'गैस' मांगते हैं ? इम्तिहान के लिए जरूरी सवाल मांगते हैं ? कह दो जरूरी सवालों की क्या जरूरत है, इम्तिहान हॉल में ही अपना कमाल दिखायें। भगा दो यहां से इन्हें। दफा कर दो।—हजरत, इम्तिहान के हॉलों में हो रहा कमाल मैंने इस साल मार्च में देखा। इम्तिहान एम० ए० का हो रहा था और मैं था डिप्टी। मैं इन झमेलों में नहीं पड़ता पर करता क्या, प्रिंसिपल साहब ने मजबूर किया। सुपरिण्टेंडेंट एक पिलपिली साहब था। नाम बताने से कोई फायदा नहीं। जवाहर लाल जी मुसकरा रहे हैं। शायद समझ गये कि यह पिलपिली साहब कौन था। भाई मेरे, राज को राज ही रहने दो। अच्छा तो खुदा आपको सेहत बख्शे, यह पिलपिली साहब हॉल में बड़ी अकड़ दिखाता था। ऐसी अकड़ कि पंछी

भी पर फड़फड़ा न सके। मगर जो पांच-छह लड़के उसकी मेज के ठीक सामने इम्तिहान दे रहे थे, मजे से किताबें खोलकर नकल कर रहे थे। मुझे लगा कि यह सरासर नाजायज है। मैंने धीरे-से बाकी लड़कों से कहा, 'देखते क्या हो ? तुम भी मौज करो। क्या ये पांच-छह लड़के ही इसके दामाद लगते हैं और तुम नहीं लगते हो ?' बस, उन बाकी लड़कों को मेरा मॉरल सपोर्ट मिला। नहीं मिलता ? उन्होंने भी जेबों से किताबों के पन्ने और स्लिप निकाले और बेफिक्री से इम्तिहान देने लगे। असल में वे भी सामग्री साथ लाये थे, पर साहस नहीं था उनके पास। पिलपिली साहब ने नाराज होकर मुझ से कहा—'यह नाजायज बात है।' मैंने कहा—'बात पहले नाजायज थी, अब नहीं रही। हमारे लिए सभी लड़के एक-जैसे हैं। बाकी रहा कायदा-कानून। हम कायदे से ही चलेंगे।' आखिर उसने भी चुप रहना ही उचित समझा। अब हम तीन घंटों में तेरह बार लड़कों को वार्निंग देते थे कि अगर उनमें से किसी ने नकल की, या नकल करने की कोशिश की या अपने पास कोई किताब, कॉपी या कागज रखा, या किसी लड़के की मदद करने या किसी से मदद लेने की कोशिश की तो उसे एक साल से लेकर पांच साल तक डिस्क्वालिफाय किया जायगा। यह वार्निंग देना हमारी ड्यूटी थी। हां, वार्निंग देने के बाद मैं एक लड़के की किताब दूसरे लड़के तक पहुंचाता। किसी-किसी को सवाल भी समझाता—जहां तक सवाल मेरी समझ में आ जाता। किसी को सवालों के जवाब लिखता—अपनी बुद्धि और जानकारी के अनुसार। बस, फिर क्या था, इम्तिहान बहुत अच्छी तरह चला। एक पर्चे में अन्य सेंटरों पर हड़ताल हुई मगर हमारे लड़के शांति से बैठे रहे। नहीं बैठते ? यूनिवर्सिटी के हाकिम भी हमारा काम देखकर खुश हो गये। रैणा साहब, क्या फरमाया आपने ? यह गिरावट की हद है। मानता हूं। पर पिछले साल आपको गिरावट क्यों नजर नहीं आयी जब आपकी लड़की का 'प्रैक्टिकल' मेरे पास था। जब आप मुंह-अंधेरे ही सेंटर पर पहुंच गये थे और एक घंटा पहले ही मुझसे पूछ बैठे थे—क्यों जी, कौन-सा 'साल्ट' रखा है ? याद आ गया ? मैं सोच रहा था कहीं भूल तो नहीं बैठे ! ऐसी बातें आदमी प्रायः भूल जाता है।

हटाइए। जिसकी भी दुम जरा-सी हटाते हैं, भेड़ ही नज़र आती है। अरे, रैणा साहब, नाराज़ हो गये। अच्छा साहब, माफी दीजिए। नकल करने वालों और नकल न करने वालों, दोनों को गोली मार दीजिए। और बसीर लाला का किस्सा सुनिये। बड़ा रस मिल रहा था आपको। हां तो, मैं क्या कह रहा था? ठीक है, याद आया। तो साहब बशीर लाले ने कहा कि अदालत ने वे चीज़ें चोर को ही दीं। अब तुम्हीं मुहल्लेवालों को सारी बात समझा दो। मैंने मुहल्लेवालों को समझाया और वे समझ गये। दूसरे दिन उन्होंने कुछ चीज़ें इकट्ठी कीं और थाने पर पहुंचा दीं। मगर कैसी चीज़ें? यही टूटी हुई तश्तरी, फटा हुआ फिरन, बिना पेंदी की पतीली। शायद उन्होंने सोचा होगा कि ये चीज़ें यदि वापस मिलीं तो ठीक। वापस न मिलीं तब कोई गम नहीं। खैर, बात आयी-गयी हो गयी। कुछ समय ऐसे ही बीता और तब एक दिन बशीर अहमद मेरे पास आया। उसने मुझसे कहा—'लो यार, कल उस चोर की अदालत में पेशी है। फुरसत हो तो आकर देख लेना। फिर इकट्ठे आहदू के रेस्तरां में चाय पियेंगे।' ···नामा सिंह एक गिलास पानी लाना।···कल, यानी दूसरे दिन कॉलेज एक बजे ही बंद हो गया। प्रो० रामनारायण और प्रो० सिद्दीक ने मुसलमान लड़कों से अर्जी लिखाई कि दस्तगीर साहब के उर्से-मुबारक के सिलसिले में कॉलेज बंद होना चाहिए। कॉलेज बंद हो गया। रामनारायण सोने या फिर जाने क्या करने के लिए घर चला गया। सिद्दीक ट्यूशन करने चला गया। लड़कों ने सिनेमा की राह ली। मुझे बशीर लाले की बात याद आयी और मैं अदालत पहुंचा।···रैणा साहब, स्टाफ रूम के लिए अब नये गिलास मंगवाने चाहिए। नामा सिंह, अगर कल इस गिलास में पानी लाओगे तो याद रखना मैं यह गिलास ही तुम्हारे सिर पर फोड़ डालूंगा।···हां, साहब, मैं जब अदालत के कमरे में दाखिल हुआ, जज के आगे इसी केस की पेशी हो रही थी। बशीर अहमद जज के सामने कोई बयान दे रहा था और जज किसी रंगीन पत्रिका के पन्ने पलट रहा था। चोर कठघरे में खड़ा था और उसके साथ दो सिपाही खड़े थे। मैं कोने में खड़ा रहकर तमाशा देखने लगा। वहां मुंशी एक साइल से जाने किस बात के लिए पैसे मांगता था। मैंने देखा कि मेरे वहां खड़े रहने से वे

खुलकर बात नहीं कर पा रहे हैं। अतः मैं दूसरे कोने की ओर चला आया। अचानक चोर की दृष्टि मुझ पर पड़ी और उसने निहायत अदब के साथ मुझे सलाम किया। मैंने भी मुसकराकर उसके सलाम का जवाब दिया। तब उसने जेब से गोल्ड फ्लैक सिगरेट का पैकट निकाला और मुझे दे दिया। शर्म से मेरे गाल लाल हो गये। नहीं हो जाते? मगर फिर विचार आया—चलो, मेरा भी क्या जाता है? कम से कम ज़िन्दगी में एक दिन सिगरेट के पैसे बचे। और फिर यार लोग जब गोल्ड फ्लैक सिगरेट पीते प्रोफेसर गुलाम नबी, लेक्चरर इन केमिस्ट्री को देखेंगे तो उनकी छाती पर सांप लोटने लगेंगे। हज़रत, हम भी अजीब हैं। एक साथ ही प्रोफेसर भी हैं और लेक्चरर भी। अपने जैसा ही एक आदमी मैंने जम्मू में देखा था। वह खुद अपना परिचय इस प्रकार देता था—डॉक्टर तेजराम शर्मा, कम्पाउंडर। खैर! मैंने चोर से सिगरेट ले लिये। नहीं लेता? सिगरेट पीने के लिए मैं बाहर निकला। मैंने एक लम्बा कश लिया और होंठ गोल करके धुएं के छल्ले हवा में उड़ाने लगा। तभी किसी ने मेरे कंधे पर हाथ रखा। मैंने पलटकर देखा। यह कोई और नहीं, अपना बशीर लाला ही था। वह मुझे अलग ले जाकर कहने लगा—'यार, लगता है यह चोर तुम्हें बहुत मानता है। उसे कह दो अगर वह दो सौ रुपये देगा तो हम केस को ही वापस ले लेंगे। बशीर अहमद की बात सुनकर मुझे खुशी ही हुई। यदि थोड़े से लेन-देन से ही बात मिट जाए तो हर्ज क्या है। मुकदमेबाजी में वे पड़ें जिन्हें पागल कुत्ते ने काट खाया हो। लगभग आधा घंटे के बाद जब सिपाही चोर को अदालत से बाहर ले आये, मैंने उसके कान में बशीर अहमद का संदेशा डाल दिया। मगर वह साला अकड़ गया। कहने लगा—अगर तीन सौ देगा, तो मैं उसे छोड़ दूंगा। वह भी आपकी खातिर। मैं शर्मिंदा हो गया। नहीं होता? चोर थानेदार के चंगुल में होता है, यह मैं जानता था। मगर एक थानेदार चोर के चंगुल में कैसे हो सकता है—यह बात मैं आज तक नहीं समझ सका हूं।

फिर? फिर क्या होना था? यह छठे दशक की कश्मीरी कहानी थोड़े ही है कि अंत में परिस्थितियां ऐसा पलटा खायेंगी कि पाठक हैरान और परेशान हो जायेंगे। मेरे प्रयत्नों के बावजूद चोर और बशीर लाले में

कोई फैसला नहीं हुआ। हो जाता तो ठीक था। मुमकिन है मुझे भी अपना कमीशन मिलता। हो सकता है बाद में कोई फैसला हुआ हो। मुझे उसकी खबर नहीं। दो-चार दिन बाद ही हम वह पुराना मुहल्ला छोड़कर जवाहरनगर वाले नये मकान में रहने चले आये। अच्छा, गोली मार दो दोनों को और मुझे एक सिगरेट पिलाओ।

एक नंगी कहानी

सौभाग्य से मुझे घर के बाहर ही टैक्सी मिल गयी। ड्राइवर को कॉलेज चलने का आदेश देकर मैंने उसके सामने लगे शीशे में अपना चेहरा देखा। कानों में अभी तक साबुन लगा था। मैंने उसे रूमाल से पोंछ डाला। टाई की नाट दाहिनी ओर कॉलर के नीचे चली गयी थी। उसे भी ठीक किया। घड़ी देखी। दस बजने यानी क्लास शुरू होने में कुल पांच मिनट रह गये थे।

टैक्सीवाले ने मुझे दस बजकर सात मिनट पर कॉलेज गेट पर पहुंचाया। मैंने सोचा, बिल्डिंग के सामने साहब खड़ा होगा। अतः पिछवाड़े की ओर से ही चुपके से क्लास में घुसना बेहतर रहेगा। मगर मेरी बदकिस्मती देखिए, साहब इस समय पिछवाड़े के लॉन में ही मेरे दो-तीन सहयोगियों के साथ बतिया रहा था। मैंने जैसे उन्हें देखा ही नहीं। तेजी से सीढ़ियां चढ़ा और सीधा क्लासरूम में चला गया। मैंने चाक उठाकर बोर्ड पर आज के लेक्चर का विषय लिखा। अचानक क्लासरूम में शोर-सा उठा। मैंने लड़कों की ओर देखा। वे ठहाके पर ठहाका लगा रहे थे और हंसते-हंसते उनके शरीर दुहरे हो रहे थे। कक्षा की अकेली लड़की ने अपना सिर झुका लिया था। मैंने जब अपनी आवाज को लड़कों के ठहाकों से भी ऊंचा करके उनसे हंसने का कारण पूछा तो एक लड़के ने उंगली से मेरी टांगों की ओर इशारा किया। मैंने अपनी टांगों की ओर दृष्टि डाली और मैं आकाश से धरती पर गिर पड़ा। मैंने कमीज पहन रखी थी।

कमीज के ऊपर कोट डाला था। टाई भी बांधी थी। मगर जल्दी में मैं पतलून पहनना भूल गया था।

मैं झट से कुर्सी पर बैठ गया और टांगें टेबुल के पीछे छिपा लीं। लगा कि इन टांगों के रास्ते से ही मेरे प्राण निकल रहे हैं और मैं कुछ ही क्षण में पछाड़ खाकर गिर पड़ूंगा। मैंने टेबुल को जोर से पकड़ रखा। सारे शरीर से ठंडे पसीने फूट पड़े। कुछ समझ में नहीं आता था कि यह सब कैसे हो गया। माना कि मैं बड़ा ही भुलक्कड़ हूं। कभी पेन भूल जाता हूं तो कभी रूमाल। कभी-कभी बस या तांगे में बैठने के बाद याद आता है कि मेरी जेब में पैसे नहीं हैं। मगर ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ था। आज ऐसा हुआ तो क्यों हुआ ?

पतलून पहने बिना कॉलेज आना कोई मामूली अपराध नहीं है। तिस पर जब कॉलेज में लड़के ही नहीं, लड़कियां भी पढ़ती हों। इस अपराध के लिए यदि बड़ी-से-बड़ी सजा भी दी जाये तो वह भी कम होगी। मगर मैं कैसे मान लूं कि मैंने सचमुच कोई अपराध किया है ? मैं जान-बूझकर इस प्रकार नंगा कॉलेज नहीं आया हूं। मैंने पतलून पहन रखी है या नहीं, यह देखना सिर्फ मेरा ही काम था क्या ? क्या यह दूसरों का भी कर्तव्य नहीं था ? यदि मुझे पतलून पहनना याद नहीं रहा था तो दूसरों को चाहिए था कि वे मुझे याद दिलाएं। दोष मेरा ही नहीं, सभी का है। ड्राइवर को ही लो। मैं उसकी टैक्सी में दस-बारह मिनट बैठा रहा। क्या उसका यह फर्ज नहीं था कि मुझे मेरी दशा का ज्ञान कराये। लेकिन वह चुप रहा। उसे केवल अपने पैसों से गरज थी। मैं किस हालत में कॉलेज आया हूं, यह देखना गेट पर खड़े चपरासी की भी ड्यूटी थी। मुझे अब याद आया। जिस समय उसने मेरे लिए कॉलेज का गेट खोला, उसने कुछ कहने की भी कोशिश की थी। मगर फिर चुप रहा। मालूम नहीं क्यों ? शायद वह बड़े आदमियों के मामलों में टांग अड़ाने से डरा होगा। चार महीने पहले उसने रिपोर्ट की थी कि फाइनल की रोल नम्बर सात लड़की और एक प्रोफेसर साहब कॉलेज बंद होने के बाद भी देर तक केमिस्ट्री लैब में 'प्रैक्टिकल' करते रहते हैं। प्रोफेसर का किसी ने कुछ भी नहीं बिगाड़ा, पर गलत रिपोर्ट करने पर बेचारे चपरासी की तनख्वाह दो

महीने के लिए रोक दी गयी। फिर भी उसे मेरे कान में चुपके से कहना चाहिए था कि मैं नंगा हूं। मैं उसके विरुद्ध कोई रिपोर्ट नहीं करता। मगर वह फिर भी डरा, व्यर्थ ही।

मैं भी व्यर्थ ही डर रहा हूं। डरना तब चाहिए था जब मेरी नीयत बुरी होती। जब मैं जान-बूझ कर नंगा होकर कॉलेज आया होता। मेरी नियत बिलकुल साफ थी। रही भूल जाने की बीमारी, उसका इलाज मेरे पास कहां है ? वैसे भूल-चूक तो सभी से हो ही जाती है। परसों साहब घर पर ही अपनी घड़ी भूल आया था। उसे किसी ने सूली पर नहीं चढ़ाया तो मुझे क्यों चढ़ाएंगे ? उनकी घड़ी काफी कीमती, पांच-छह सौ की थी। मेरी पतलून तो ज्यादा से ज्यादा पचास-साठ की होगी।

मैंने लड़कों को क्या लैक्चर नहीं दिया ? मैंने उनसे कहा कि वे अपनी कॉपियों पर कल के सबक का ही सार लिखें। वे कॉपियां निकालकर लिखने लगे। मैंने खिड़की से झांककर देखा, क्लास रूम के बाहर मेरे अनेक सहयोगी खड़े थे। मैं गौर से देखने लगा। साफ था कि इन्होंने साहब के कहने पर मेरे गिर्द घेरा डाल रखा है। निश्चित था कि साहब ने मुझे नंगी दशा में देख लिया था और मुझे अपनी ही क्लास में नजरबन्द रखा था। वह स्वयं मेरे सहयोगियों से कुछ दूर खड़ा कुछ सोच रहा था। थोड़ी देर बाद वह अपने कमरे में चला गया। उसके जाते ही मेरा एक सहयोगी बाकी लोगों को रोककर कहने लगा—"अब पूरी कहानी सुन लो। मैंने अक्ल से काम लिया और झट से अपनी पतलून पहन ली। उसने ऐसे स्वांग रचा जैसे वह अभी भी बेहोश हो। वे किवाड़ तोड़कर भीतर आये। मगर वहां क्या देखते। साले अपना-सा मुंह लेकर रह गये। मतलब यह कि परदापोशी बहुत ही जरूरी है। इस गधे की तरह नहीं कि···"

मेरे एक बुजुर्ग सहयोगी, कॉलेज के एक वरिष्ठ प्रोफेसर ने आह भरी—"ईश्वर सभी की लाज रखे, पर्दापोशी करे।"

सोचा, यहीं से चिल्लाकर कह दूं कि मुझे किसी की पर्दापोशी की जरूरत नहीं है। मैंने थोड़े ही कोई याद किया है। यदि मुझे ध्यान रहा होता तो मैंने पतलून पहनी ही होती। मैं यह बात किसी की भी शपथ लेकर कह सकता हूं। वास्तव में एक परेशानी के कारण कल रात मुझे

देर तक जागना पड़ा जिस कारण आज सुबह देर से ही मेरी नींद खुली। फिर भी नौ बजे तक मैंने दाढ़ी बनाने, नहाने आदि के सभी काम निबटाए। फिर कमीज पहनकर और टाई बांधकर नाश्ता किया। कोट की जेबों में बटुवा, रेजगारी, सिगरेट-पैकेट, माचिस, रूमाल और पेन रखे। पतलून इसलिए नहीं पहनी कि कहीं उसकी क्रीज खराब न हो जाये। ये सारे काम निपटाकर मैं आज के लेसन को देखने लगा। यह घड़ी तो नौ-सवा नौ तक ठीक तरह चलती है। इसके बाद न जाने उसे क्या हो जाता है यह पौने दस तक अचानक छलांग-सी लगाती है। मुझे कई बार इसका एहसास हुआ है। आज सुबह भी घड़ी की सुइयों ने नौ पचास तक एक ही छलांग लगाई थी। मैंने हड़बड़ाकर कोट कंधों के ऊपर डाल लिया और चल पड़ा। मैं समय पर ही अपनी क्लास लेना चाहता था। यदि मैं क्लास नहीं लेता तो लड़के खाली रह जायेंगे। तब वे दंगा-फसाद करेंगे, नारे लगायेंगे। कोई ऐसी एजिटेशन शुरू करेंगे जिससे सारे देश में आग लग जायेगी। सरकार परेशान हो जायेगी। देश के हितों को आघात पहुंचेगा और एक नागरिक होने के कारण मेरे हित देश के हितों से भिन्न नहीं हैं। इसीलिए मैंने ऐसी उतावली की। मगर लानत हो ऐसी उतावली पर!

साहब अपने कमरे से निकलकर मेरे सहयोगियों के पास आ गया जिन्होंने मेरे गिर्द घेरा डाला था। उसने कहा—"मैं डायरेक्टर साहब से टेलीफोन पर बात कर रहा था। उन्होंने खुद मौके पर मुआयना करने की इच्छा प्रकट की। हो सकता है वे अपने साथ मिनिस्टर साहब को भी लायें।"

मेरे पांव तले से जमीन खिसक गयी। मेरी समझ में नहीं आया कि क्या यह मामला इतना गम्भीर था कि डायरेक्टर और मिनिस्टर तक बात पहुंचाना ज़रूरी था? कॉलेज में जो कुछ होता है क्या उस सबकी रिपोर्ट डायरेक्टर या मिनिस्टर को दी जाती है? खैर, मैं मिनिस्टर साहब के सामने अच्छी तरह अपनी सफाई दे सकता हूं। मैं उनसे निवेदन करूंगा कि श्रीमान्! मुझसे गलती हुई है। गलती भी नहीं बल्कि परेशानियों के कारण जरा-सी भूल हो गयी है। चालीस वर्ष के बाद प्रत्येक व्यक्ति को भूल जाने का यह रोग थोड़ा बहुत लग ही जाता है। मैं उन्हें याद दिलाऊंगा कि दो वर्ष पूर्व उन्होंने वादा किया था कि मिनिस्टर बनते ही

वे भ्रष्टाचार और अन्याय को जड़ से उखाड़ फेंकेंगे। परन्तु मिनिस्टर बनने के बाद वे काफी व्यस्त रहे जिस कारण उन्हें अपना वादा याद नहीं रहा। हां, उनकी नीयत साफ़ थी। यदि उन्हें याद रहा होता तो उन्होंने निश्चय ही भ्रष्टाचार और अन्याय को उखाड़ फेंका होता। और इसी तरह यदि मुझे भी याद रहा होता तो मैंने भी पतलून पहन ली होती। भगवान बचाए, मेरी नीयत बुरी नहीं थी, वैसे ही जैसे मिनिस्टर साहब की नीयत बुरी नहीं थी।

सहसा मेरे कानों में किसी के रोने की आवाज आयी। मैंने आंख उठाकर देखा, कक्षा की एकमात्र लड़की बीच-बीच में सिसकी लेकर आंसू बहा रही है। मैं उठकर उसके पास चला आया। मैं खुद भी भरा पड़ा था, इसलिए उसका सिर अपनी छाती के साथ सटाकर मैं भी जार-जार रोने लगा। काफी समय तक हम दोनों साथ-साथ रोते रहे। फिर उसने अपने को संभाला और उठकर अपने दुपट्टे से आंसू पोंछने लगी। फिर यही दुपट्टा अपने कंधों से उतारकर मुझे देने लगी। मैं तुरन्त पीछे हट गया और वापस अपनी कुर्सी पर बैठकर मैंने उससे कहा—"तुमने मुझे इतना बेगैरत समझा? क्या मैं इतना कमीना हूं कि तुम्हारा दुपट्टा छीनकर अपना नंगापन ढंक लूं? अपनी लाज बचाने के लिए क्या संसार में मेरे लिए केवल तुम्हारा दुपट्टा रह गया है? तुम रोती क्यों हो? मुझ पर विश्वास रखो। मैं जरूर कोई न कोई रास्ता निकाल लूंगा।"

साहब ने दफ्तर से पांच-छह क्लर्क और चपरासी मंगवाये और मेरे गिर्द जो घेरा डाला गया था उसे मजबूत बनाया। उसने कहा – "जहां तक कानून का सवाल है, हम क्लासरूम के भीतर दाखिल नहीं हो सकते हैं। हां, घंटी बजने पर यह ज्यों ही अपनी क्लास छोड़ेगा, हम इसे घेर लेंगे और अपनी कार्रवाई शुरू करेंगे। सम्भव है तब तक डायरेक्टर साहब भी आ जायें।" फिर उसने घड़ी देखकर मेरे सहयोगियों से कहा—"अभी घंटी बजने में पन्द्रह मिनट हैं।"

मैंने भी अपनी घड़ी पर दृष्टि डाली। दस बजकर अठारह मिनट हो चुके थे। दूसरे पीरियड की घंटी दस बजकर चालीस मिनट पर बजती है और अभी उसमें बाईस मिनट थे। साहब ने साफ और सफ़ेद झूठ बोला

था कि घंटी बजने में कुल पन्द्रह मिनट रह गये हैं। उसने जान-बूझकर मेरे असल के सात मिनट मार लिये। मुझे विश्वास हो गया कि मेरे साथ जान-बूझकर अन्याय किया जा रहा है। मैंने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया कि मैं वे सात मूल्यवान मिनट किसी भी कीमत पर नहीं छोड़ूंगा। किसी भी हालत में अपना अधिकार नहीं छोड़ूंगा। भले ही ये पन्द्रह मिनट बाद घंटी बजायें, मैं पूरे बाईस मिनट के बाद क्लास छोड़ दूंगा। आश्चर्य की बात थी कि मेरे सहयोगियों में से किसी ने भी साहब से यह नहीं कहा कि श्रीमानजी, आपकी घड़ी गलत है। घंटी बजने में अभी बाईस मिनट हैं। जाने आज उन्होंने मेरे साथ कोई सहानुभूति क्यों नहीं दिखाई? मेरे साथ सहानुभूति नहीं दिखाई तो न सही, कम से कम उन्हें सच तो बोलना ही चाहिए था। क्या सच बोलने पर उन्हें फांसी दी जाती? मैंने अपनी आंखों से देखा कि जब साहब ने यह कहा कि घंटी बजने में पन्द्रह मिनट रह गये हैं तो मेरे चार-पांच मित्रों ने चाबी घुमाकर अपनी घड़ियों की सुइयां सात-सात मिनट आगे कर दीं।

न दिखायें मेरे साथ सहानुभूति। न करें साहस सच बोलने का। ये मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। मेरी शक्ति मेरे छात्र हैं। यदि वे मेरा साथ दें तो कोई मेरा बाल भी बांका नहीं कर सकता। और वे अवश्य मेरा साथ देंगे, क्योंकि मैं इन्हें अच्छी तरह पढ़ाता हूं। इनके लिए काफी मेहनत करता हूं। हमेशा इनकी मांगों का समर्थन करता रहा हूं। आज मैं खुलमखुल्ला इनका पक्ष लूंगा और इनके आगे कॉलेज का सारा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दूंगा। कॉलेज की ग्रांट कहां उड़ जाती है? गेम्ज फंड कहां चला जाता है? ये नवयुवक सोये शेरे-बबर हैं। मैं इन्हें जगा दूंगा। जागकर ये किस-किसका खून पीयेंगे, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। मेरे लिए कौन चिन्तित हुआ, जो मैं किसी की चिन्ता करूं?

मैंने तनिक खंखारकर अपना गला साफ किया और लेक्चर देने के अन्दाज में लड़कों से सम्बोधित हुआ—"तुम लोग जो फीस देते हो उसका एक हिस्सा सरकार ले जाती है। मगर अधिकांश कॉलेज में ही रहता है। कॉलेज फंड इसे ही कहते हैं और यह कॉलेज और कॉलेज के छात्रों के कल्याण के लिए खर्च होना चाहिए। मगर अफसोस है ऐसा नहीं होता है।

वे पैसे कहां चले जाते हैं? कुछ मालूम है?"

"हमें सब कुछ मालूम है।" एक लड़का चिल्लाया।

"शाबाश!" मैंने उस लड़के की पीठ ठोंकी—"मेरा खयाल था कि तुम सो रहे हो मगर तुम मुझसे अधिक सजग हो। मैं तुम पर बहुत ही प्रसन्न हूं। बताओ, कॉलेज फंड का क्या हश्र होता है?"

"मुझे हर रोज चाय की प्याली और दो अण्डे मिलते हैं।" दूसरे लड़के ने उठकर कहा।

"मुझे हर हफ्ते दस रुपये और एक सिनेमा टिकट मिलता है।" तीसरे लड़के ने कहा।

"हमें सिगरेट के लिए पैसे मिलते हैं।" बाकी लड़कों ने भी उठकर कहा।

मैं शर्मिन्दा हो गया। मैंने मन में जाने क्या-क्या सोच रखा था। मुझे शक था कि ये सारे रुपये साहब हजम कर जाता है। मुझे कहां खबर थी कि छात्रों के ये रुपये छात्रों पर ही खर्च किये जाते हैं। मैंने एक गहरी सांस ली और मुंह से एक मरी हुई आवाज निकली—"मतलब सभी को कुछ न कुछ मिलता है!"

"सभी को।" सब लड़कों ने एक साथ ऊंची आवाज में कहा।

"तुम्हें भी कुछ मिलता है?" मैंने कक्षा की एकमात्र लड़की से पूछा।

उसने सिर हिलाकर इनकार किया और मुझमें एक बार फिर साहस लौट आया। मैंने फिर गरजना शुरू किया—"क्यों नहीं मिलता है? क्या तुम फीस नहीं देती हो? तुम्हारे साथ सौतेली मां का सलूक क्यों किया जा रहा है? तुम अपने अधिकार के लिए लड़ो। मैं तुम्हारा साथ दूंगा।"

"क्या यह नारे लगा सकती है?" एक लड़के ने उठकर पूछा।

"नहीं।" मैंने उत्तर दिया।

"क्या दंगा कर सकती है?" दूसरे ने पूछा।

"नहीं।"

"तो फिर चुप रहिए।" उसने हंसकर कहा।

मैं चुप रहा और अपनी कुर्सी में सिमट गया। घड़ी पर दृष्टि डाली। दस बजकर तेईस मिनट हो चुके थे। मेरे हिसाब से घंटी बजने में अभी

सत्रह मिनट थे। किन्तु साहब के अनुसार केवल दस मिनट। दस मिनट बाद ही वह घंटी बजाने का आदेश देगा। ठीक है मैं क्लास में ही बैठा रहूंगा। मगर लड़के थोड़े ही मानेंगे, ज्योंही वे घंटी की आवाज सुनेंगे, वे भाग खड़े होंगे। उनके क्लासरूम से बाहर जाते ही मेरे सहयोगी कमरे में घुस आयेंगे और मुझे घेर लेंगे। हो सकता है वे मुझे कुर्सी से बांधकर रखें और तब खुद साहब आ जायेगा और मेरे विरुद्ध कार्रवाई शुरू हो जायेगी। हो सकता है तब तक डायरेक्टर और मिनिस्टर साहब भी तशरीफ ले आयें। अर्थात मेरा बचना असम्भव है।

मैंने फिर घड़ी की ओर देखा। घंटी बजने में अब कुल नौ मिनट रह गये थे। कुछ देर बाद आठ मिनट ही रह जायेंगे। फिर सात ही मिनट। फिर छह। किन्तु नहीं। हो सकता है कि मुझे घंटी बजने तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़े। सम्भव है उससे पहले ही सब खत्म हो जायेगा। घंटी बजने से पहले ही इसी कमरे में, इसी कुर्सी पर मेरे प्राण निकल जायेंगे।

यह साहब : वह साहब

चाय आ गयी। यह साहब चाय बनाने लगा और चाय बनाते-बनाते उस साहब से कहने लगा—"तुम प्रतिक्रियावादी और फिरकापरस्त हो। तुम राष्ट्र को बेचना चाहते हो। जनता को बहकाते और भटकाते हो। तुम उत्तेजनापूर्ण भाषण देकर दंगा-फसाद कराते हो, ताकि देश प्रगति के पथ पर आगे न बढ़ सके। परन्तु भगवान का शुक्र, जनता मूर्ख नहीं है। वह तुम्हारी चालों को भली भांति समझती है। संभव है कुछ सीधे-सादे लोग तुम्हारी मीठी-मीठी बातों के फुसलावे में आते होंगे। ईश्वर ने चाहा तो हम इन लोगों के आगे ही तुम्हें नंगा करेंगे··· चाय में चीनी कितनी डालूं?"

"एक चम्मच।"

"चीनी कब से कम कर दी है?"

"तुम्हें नहीं मालूम, साल-भर से अधिक समय हुआ?"

"अच्छा।"

"हां, डॉक्टर ने चीनी कम इस्तेमाल करने को कहा है। यह भी कहा है कि दोनों समय चावल नहीं, एक समय फुलके खाया करूं। सप्ताह में एक दिन बिलकुल उपवास रखने के लिए भी कहा है।"

"हुआ कुछ असर?"

"अरे, बहुत हुआ। तुम्हें नहीं लगता कि अब पहले जैसा फूला हुआ नहीं रहा।"

"अरे, हां, काफी फर्क आया है। इलाज जारी रखना।"

"और नहीं तो क्या! जान है तो जहान है।"

दोनों साहब चाय की चुसकियां लेते रहे। चाय पीकर उस साहब ने सिगरेट सुलगायी और इस साहब से बोल उठा—"तुम एक जालिम डिक्टेटर हो। हिटलर या मुसोलिनी का बस नाम था। तुम्हारे विरुद्ध जो कोई भी जबान खोलता है उसे तुम कैद करते हो। गीले कपड़े पहनाकर उनके ऊपर गरम इस्तरी चलाते हो। उनके मुंह में उबलते आलू घुसेड़ देते हो। रही बात देश की प्रगति की, तुम्हारे शासनकाल ने देश में कौन-सी प्रगति की? जनता की हालत बद-से-बदतर हो गयी। ऐश तो बस तुम्हारे और तुम्हारे दल के लोगों के हैं। मगर न कोई सिकन्दर रहा है और न ही किसी की सिकन्दरी! ईश्वर न चाहा तो जल्दी ही हम तुम्हें खत्म कर डालेंगे···यह पेंटिंग किसकी है?"

"तुम्हें नहीं मालूम? बेबी ने बनायी है।"

"अपनी बेबी ने?"

"और नहीं तो क्या!"

"भई, कमाल है! तुमने बताया नहीं कि बेबी आर्टिस्ट भी है।"

"आर्टिस्ट क्या, कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएं खींचती है। कहती है, यही आधुनिक कला है।"

"आधुनिक कला! जब बेबी कहती है तो आधुनिक कला ही होगी।"

"सो तो है, पर अपनी समझ में कुछ नहीं आता है। शुक्र है कि राजनीति में अभी तक यह आधुनिकता नहीं आ गयी है। अन्यथा न मैं तुम्हारी बात समझता और न तुम मेरी।"

दोनों हंसने लगे। तभी पहले साहब का नौकर भीतर से आया और उसने अपने मालिक के कान में कुछ कहा। उसके मालिक ने दूसरे साहब से कहा—"लो भाई, अन्दर से हुकुम मिला है कि तुम्हें लंच खाये बगैर न जाने दूं।"

"नहीं, भाई! मैं नहीं खा सकता। मेरी तरफ से माफी मांग लो।"

"माफी किस बात की? भई, खा लो। भगवान न करे हमारी आपस में कोई व्यक्तिगत लड़ाई तो नहीं है। यह तो सिद्धांतों की लड़ाई है।"

"तुमने सही कहा। हमारी लड़ाई सिद्धान्तों की लड़ाई है और सिद्धान्तों के लिए मैं अपनी जान तक दे सकता हूं। लोगों को यह बात मालूम है और इसीलिए वे मुझ पर मरते हैं। सिद्धान्तों के कारण ही मैंने तुम्हारी डिक्टेटरशिप खत्म करने की कसम खायी है—बाकी रहे मेरे और तुम्हारे व्यक्तिगत संबंध, वे हमेशा रहेंगे।"

"मुन्ने की परीक्षा हो गयी?"

"हां, भई, हो गयी।"

"पर्चे कैसे बन पड़े हैं?"

"कहता है ठीक ही हुए हैं। चलो यार, नतीजा तो निकलने वाला ही है। ईद के दिन ही धोबी की धुलाई मालूम होगी।"

"अब उसे आगे क्या करना है?"

"अभी इस बारे में कुछ सोचा नहीं है।"

"तुम कहो, मैं करूंगा। अगर वह आगे पढ़ने के लिए यूरोप या अमरीका जाना चाहे तो भेज देंगे। या यहीं कोई अच्छी-सी नौकरी देंगे। मतभेद तो हमारे बीच है। हमारे बच्चों ने कौन-सा पाप किया है! क्या मुन्ना मेरा बेटा नहीं है?"

"उसके लिए जैसा मैं हूं, वैसे तुम हो।"

"अच्छा, पहले उसे पास होने दो। फिर उसे मेरे पास भेज देना। मैं खुद उससे पूछ लूंगा।"

"ठीक है।"

पहले साहब ने पाइप सुलगायी। एक-दो कश लेने के बाद उसने दूसरे साहब से कहा—"कल तुम्हारा संपादकीय पढ़ा। खूब लिखा था।"

"नहीं लिखता? देखा, कैसी खबर ली थी तुम्हारे दल के उग्रवादी गुट की? ये लोग ऐसी बातें करते हैं जो किसी के गले नहीं उतर सकतीं।"

"हां, भई, ये उग्रवादी हर दल में होते हैं और हर जगह यही तबाही लाते हैं।"

"मगर तुम्हारी पार्टी के नरम दल के साथ भी हमारा मतभेद है। अगले संपादकीय में मैं उन्हें भी नंगा करूंगा।"

"तुम्हें अपने विचार व्यक्त करने की पूरी आजादी है। हम प्रजातंत्र में विश्वास रखते हैं।"

कुछ देर तक दोनों चुप रहे। एक साहब पाइप पीता रहा और दूसरा किसी मोटी पुस्तक के पन्ने पलटता रहा। आखिर उसने दूसरे साहब से पूछा—"तो लंच खाकर ही जाओगे, या नहीं?"

"अच्छा भई, खा लूंगा।"

"निमंत्रण तुम्हारी भाभी का है, मेरा नहीं।"

"तभी तो मैं मान गया। अगर तुमने कहा होता तो मैं शायद नहीं खाता। डरता कि कहीं इससे मेरे सिद्धान्तों का···"

"तुम ही सिर्फ सिद्धान्तों का पालन नहीं करते हो।" पहले साहब ने बीच में ही उसकी बात काटी—"हमें भी अपने सिद्धान्त प्रिय हैं।"

इसी समय चार आदमियों ने कमरे में प्रवेश किया। साहब ने उनसे हाथ मिलाया और उन्हें कुर्सियों पर बिठाया।

दूसरा साहब मोटी किताब के पन्ने पलटने में व्यस्त था।

'तुम्हें तो पता चल ही गया होगा कि कल मैं तुम्हारे इलाके में दौरा कर रहा हूं।" पहला साहब उन चार आदमियों से कहने लगा—'तुम समझदार और अनुभवी कार्यकर्ता हो। तुम्हें कुछ बताने की जरूरत नहीं है।"

"जनाब, स्वागत बड़ा ही शानदार होगा।" उन चार में से एक आदमी बोल उठा।

"यह स्वागत तुम लोगों को मेरा नहीं, बल्कि उन सिद्धान्तों का करना है जो हमें प्रिय हैं। मैं तो उन सिद्धान्तों का प्रतीक मात्र हूं।"

चारों आदमियों ने जोर-जोर से तालियां बजायीं।

साहब ने बास्केट की जेब में हाथ डालकर नोटों का एक बंडल निकाला और उनके हवाले किया।

उन चार आदमियों में से एक और आदमी बोल उठा, 'आप देख लीजिए, जनाब का अपूर्व स्वागत होगा। बंदनवार, पताकाएं, बंगोले, पुष्पहार—सभी कुछ शानदार होगा। ऐसा भव्य स्वागत होगा कि हमारे दुश्मनों को डूब मरने के सिवा कोई चारा नहीं रहेगा।"

साहब थोड़ा-सा मुसकराया। उन चार आदमियों ने दूसरे साहब की ओर ऐसे देखा, मानो उसे कच्चा चबा जायेंगे। मगर वह मोटी किताब में डूबा हुआ था। उसने ये बातें नहीं सुनी थीं, या हो सकता है कि सुनकर भी अनसुना करना ही बेहतर समझा हो।

चारों आदमियों के जाने के बाद उस दूसरे साहब ने पहले साहब से कहा, "क्यों जी, कल तुम दौरे पर जा रहे हो और इन लोगों ने अभी कोई खास तैयारी नहीं की है।"

"चलो यार, तैयारी करने में समय ही कितना लगेगा।"

"नहीं भाई, हमने तो परसों ही सारी तैयारियां मुकम्मल की हैं।"

"अच्छा! तुम्हारा कल का क्या प्रोग्राम है?"

"रास्ते में तीन जगह काली झंडियों से तुम्हारा स्वागत होगा। बस और कुछ नहीं।"

"झंडियां आदि बनायी हैं?"

"बन चुकी होंगी। तीन दिन पहले ही कपड़ा लाकर दिया है।"

"उस इलाके में तुम्हारे कार्यकर्त्ता अच्छा काम करते हैं।"

"नहीं करेंगे? आखिर हम लोग किसी छोटी-मोटी बातों के लिए थोड़े ही लड़ते हैं। हमारे सिद्धान्त बहुत ऊंचे हैं।"

"लेकिन मैं इन बातों से डरनेवाला नहीं हूं। मेरे साथ जनता है।" उस साहब ने ऊंची आवाज में कहा।

"जनता हमारे साथ है।" उस साहब ने और भी ऊंची आवाज में गरजकर कहा।

कुछ देर कमरे में खामोशी रही। फिर सिगरेट वाले साहब से कहा, "तुम्हारे पास फिलहाल पांच सौ रुपये तो नहीं होंगे?"

"किसलिए चाहिए?"

"बजाज को काले कपड़े के पैसे देने हैं।"

पाइप वाले साहब ने बास्केट की जेब में हाथ डालकर एक और बंडल निकाला और दूसरे साहब के हवाले किया।

सहसा दोनों को बाहर से आता कोई शोर सुनायी दिया। शोर का कारण किसी की समझ में नहीं आया। वे हैरानी से एक-दूसरे का

मुंह देखने लगे।

शोर बढ़ता ही गया। दोनों परेशान हो गये। पाइप वाले साहब ने नौकर को बुलाकर उसे शोर का कारण मालूम करने के लिए बाहर भेजा।

नौकर दस-पन्द्रह मिनट के बाद कारण मालूम करके लौटा—"जनाब, इधर से आपके समर्थकों का जुलूस निकल रहा था।" उसने अपने मालिक से कहा—"वे लोग नारे लगाकर आपको जिंदाबाद बोल रहे थे। ज्यों ही वे चौक में पहुंचे, उन्होंने दूसरे रास्ते से इनके समर्थकों का जुलूस आता देखा।" नौकर ने सिगरेट वाले साहब की ओर इशारा किया।

"फिर क्या हुआ ?" सिगरेट वाले साहब ने पूछा।

"फिर क्या होना था, साहब ! चौक में पहुंचकर दोनों जुलूस रुके। दोनों ओर से जोर-जोर से नारे लगाये जाने लगे। जिंदाबाद और मुरदाबाद होने लगी। फिर एक-दूसरे पर झपट पड़े। पत्थर और खाली बोतलें बरसने लगीं। सुना इकतीस व्यक्ति घायल हो गये जिसमें ग्यारह की हालत बहुत खराब बतायी जाती है।"

दोनों साहब उदास हो गये। किसी से कुछ कहते ही नहीं बना। सिर्फ मायूस नजरों से एक-दूसरे की तरफ देखते रहे।

"यह तो बहुत बुरा हुआ।" आखिर एक साहब के मुख से शब्द निकल ही पड़े।

"हिंसा बुरी है। इसकी निन्दा होनी चाहिए।" दूसरे साहब ने कहा, "राजनीति की लड़ाई सिद्धान्तों की लड़ाई होती है। यह धर्मयुद्ध है। हिंसा उसे कलंकित करती है।"

'असल में अभी जनता में सच्ची राजनीतिक चेतना नहीं आयी है।" पहले साहब ने आह भरी। पाइप बुझ गया था। उसने उसे फिर सुलगाया।

दूसरे साहब ने कोई जवाब नहीं दिया। उसकी आंखों में आंसू तैर रहे थे। उसने सिगरेट बुझायी और रूमाल से अपनी आंखें पोंछने लगा।

शॉपिंग

दूकान से निकलकर दोनों देर तक फुटपाथ पर चुपचाप चलते रहे। जब चुप्पी भूषण के लिए असह्य हो उठी तो उसने कहा, "मेरे खयाल में तुमने गलती की। काला कार्डिगन अच्छा था और···और ज्यादा महंगा भी नहीं था।"

कांता ने जलकर, किसी अभियोग का उत्तर देने के स्वर में कहा—"पूरे सौ बता रहा था।"

"अस्सी-नब्बे में दे ही देता।"

पास ही एक आदमी कंघे और हेयर-ब्रश बेच रहा था। कांता ने हलके पारदर्शी गुलाबी रंग का एक ब्रश उठा लिया और उसे उलट-पुलटकर देखने लगी। अपनी बात का उत्तर न पाकर भूषण भीतर ही भीतर उपेक्षित और अपमानित अनुभव कर रहा था। अब जैसे उसे कुछ करने का, कर दिखाने का अवसर मिल गया। उसने हेयर-ब्रश की कीमत पूछी और जेब से बटवा निकाला। लेकिन कांता ने तभी ब्रश वापस रखा और आगे बढ़ गई।

भूषण ने सिगरेट सुलगाकर एक लम्बा कश लिया। हर ओर दूकानें ही दूकानें थीं। बड़ी दूकानें, छोटी दूकानें, मामूली दूकानें। बड़ी-बड़ी बिल्डिंगों के पूरे ग्राउंड-फ्लोरों में फैली दूकानें, संकरी कोठरियों में सिमटी दूकानें, शो-केसों में घुटती दूकानें, खोंचों में भटकती दूकानें। टी० वी०, टेप रिकार्डर, ट्रांजिस्टर, शाल-साड़ियां, जूते-सैंडल, सूटिंग-शर्टिंग, बैग-अटैची,

ताश, नेलकटर, चश्मे-पेन, फॉरेन सेंट, सेफ्टी-रेजर, कॉण्डोम, शीशे के ऐश ट्रे, खिलौने, नॉयलन के मोजे-फीते, मूंगफली, तिलपट्टी, रेवड़ियां, चूड़ा-चेन, केले-अमरूद। कदम-कदम पर दूकानें और दूकानदार। दूकानदारों से अधिक खरीदार। हर माल के आगे भीड़। ग्राहकों की छीना-झपटी। डाल से सद्य: तोड़े गये बहुत महंगे अमरूदों के लिए भी, कम महंगे साधारण अमरूदों के लिए भी, और बहुत सस्ते सड़े-गले अमरूदों के लिए भी! दूकानदारों में मर्दों के साथ औरतें। खरीदारों में मर्दों से ज्यादा औरतें। सड़क की दोनों ओर फुटपाथ से लगी मोटरगाड़ियों की दो कतारें। इन कतारों के बीच, और इनसे परे पैदल चलने वालों का हजूम। हर तीसरी-चौथी दूकान से लटकते बैनर और किवाड़ों के शीशे से चिपके लेबल और स्टिकर, जिन पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा है—'सेल'! 'सेल'!

एक छोकरा मूंगफली बेच रहा था। कांता ने उससे एक लिफाफा ले लिया और अंगिया में छिपाए पर्स से कुछ सिक्के निकालकर उसे दे दिये।

"तुमने पैसे क्यों दिये?" भूषण ने रुष्ट होकर कहा।

"क्या वह लिफाफे मुफ्त बांट रहा था?" कांता ने भोली बनकर पूछा।

"पैसे मैं देता।"

"मैंने भी तुम्हारे ही पैसे दिये। अपने बाप-भाई के नहीं।"

भूषण को इस बात का सहसा कोई जवाब नहीं सूझा।

"लो, मूंगफली खाओ।" कांता ने लिफाफा उसकी ओर बढ़ाया।

"नहीं, मैं सिगरेट पी रहा हूं।"

कांता कुछ कदम चलकर एक दूकान के सामने रुक गई। दूकान में साड़ियां ही साड़ियां जाल की तरह लटक रही थीं और मालिक मुसकरा-कर हर गुजरने वाले को भीतर आने का निमन्त्रण दे रहा था। उसका अभिवादन स्वीकार कर भूषण दूकान के भीतर आ गया। लेकिन कांता बाहर से ही साड़ियों पर लगे प्राइस-टैग देखकर आगे बढ़ गई।

"आखिर कुछ लेना भी है या नहीं?" खिसियाकर दूकान से बाहर आने पर भूषण ने पूछा।

"पहले तुम सूट और शर्ट के लिए कपड़ा खरीदो।"

"सो तो मैं खरीदूंगा ही। तुम कोई साड़ी पसंद कर लो।"

"मुझे कोई साड़ी पसंद ही नहीं है।"

"क्या कहा?" भूषण ने सिगरेट का अधजला टुकड़ा फेंककर कहा—"इतने बड़े शहर का इतना बड़ा मार्केट। इतनी सारी दूकानों में इतनी सारी साड़ियां। और तुम्हें कोई साड़ी पसंद ही नहीं है!"

"इस मार्केट के बाहर और इस दिन के बाद भी हमने ज़िंदा रहना है।"

"उसके लिए तुम्हारे बाप से पैसे लेंगे।"

"वह कहां से देगा? उसके पास पैसे होते तो···"

"तो वह अपनी बेटी की शादी किसी सेठ-साहूकार से करता।"

"तुम लड़ रहे हो!"

"तुम्हें साड़ी खरीदनी है या नहीं?"

"पहले तुम सूट खरीदो।"

दाहिनी ओर एक गली थी। भूषण अन्दर चला गया। कांता एक बिंदी-सिंदूर वाले से कुछ मोल-तोल कर रही थी। भूषण कहां गया, इस ओर उसका ध्यान नहीं गया। और जब ध्यान गया तब अधिक विचलित भी नहीं हुई। पर भूषण झल्ला रहा था कि कांता उसके साथ गली में क्यों नहीं चली आयी। इन गलियों की छोटी दूकानों में निश्चय ही मेन मार्केट से अच्छी और सस्ती चीजें मिल सकती हैं—दि बेस्ट एण्ड दि चीपेस्ट। लेकिन यह क्या? इस गली में लगभग सारी दूकानें सोने-चांदी की हैं। सोने के हार, कंगन, झुमके, चांदी की तश्तरियां, टी सेट। वह उलटे पांव गली से बाहर आ गया।

"कहां गये थे?" कांता इस समय थोड़ी घबराई हुई थी।

"अन्दर गली में सिगरेट लेने गया था।"

"बिना हद की सिगरेट पीने लगे हो।" उसने होंठ बिचकाकर कहा और फिर जाने धीरे-धीरे क्या-क्या बड़बड़ाती रही।

भूषण ने यह बड़बड़ सुनी भी और नहीं भी सुनी। समझी भी और नहीं भी समझी। उसकी आंखों में अभी तक सोने के आभूषणों और चांदी के सामान की चौंध बसी थी। चौंध शायद आभूषणों और सामान से

अधिक उनकी सजावट में थी। सचमुच इस महानगर में हर आदमी अपने सामान को सजाना जानता है। सोना-चांदी हो चाहे कोई मामूली से मामूली चीज़। सामने फुटपाथ पर चने बेचने वाले ने चने के ढेर के ऊपर गुलाब के चार-पांच फूल सजाए थे। इस मार्केट की छोर पर जो दूसरी सड़क, दूसरा मार्केट शुरू होता है, वहां एक दूकान में मोटर-साइकिल और स्कूटर सजे थे। और उसकी बगल वाली दूकान में कूड़े-कचरे से बीने गये कागज़, फटे-मैले खाली पैकेट, पालीथीन के गंदे थैले, लॉकरों और सेफों में रखे नोटों के बंडलों की तरह, करीने से सजाये गये थे। वास्तव में कोई भी चीज़ बेकार, रद्दी या गंदी नहीं है। हर चीज़ खूबसूरत अर्थात् बिकाऊ है, माल है, और हर माल के लिए सजावट ज़रूरी है।

कांता फिर कुछ कदम आगे निकल गई थी। उसकी दुबली देह और गोरी रंगत जामुनी साड़ी में और निखरती यदि उसने साड़ी बांधने में जल्दबाजी नहीं की होती, थोड़ा समय और लगाया होता। जबकि शॉपिंग के लिए, या वैसे ही आयी हर औरत जानती थी कि देह के किस अंग, किस पक्ष की खूबसूरती को निखारने के लिए कौन-सी पोशाक, किस तरह पहननी चाहिए।

कांता ने पीछे मुड़कर देखा। वह भूषण के लिए कुछ देर रुक गई और फिर उसे एक दूकान के भीतर ले गई। दूकान की तीनों दीवारों के साथ रैकों पर, ऊपर छत तक मर्दाना सूटिंग के थान के थान सजे थे और सामने बर्फ़-सी उजली चद्दर बिछे तख्तपोशों पर पांच-आठ सेल्समैन, नहीं दूकान के हिस्सेदार ग्राहकों के स्वागत-सत्कार के लिए तत्पर बैठे थे। उनके पीछे, ऊपर, पिछली दीवार के ठीक बीच में दूकान के संस्थापक, उनके दादा-परदादा की गेंदे की माला से सजी बड़े साइज की फोटो लटक रही थी और उसकी सौम्य आकृति और देवतुल्य मुसकराहट दूकान में हर ओर, हिस्सेदारों पर, माल पर और माल खरीदने वालों पर अनुग्रह और अनुकम्पा बरसा रही थी।

"कोई अच्छी-सी टेरिवूल सूटिंग दिखाइए।" कांता ने तख्तपोश पर बैठे एक आदमी से कहा। पीछे खड़ा नौकर रैकों पर लगे थान सामने

लाकर रखने लगा और वह आदमी थान खोलकर दोनों को दिखाने लगा। सभी थान अच्छे थे। सभी का डिजाइन और कपड़ा बढ़िया था। इतना बढ़िया कि यदि भूषण अपने बटवे की सारी पूंजी बदले में दे देता तो सूट-लेंथ का पलड़ा ही भारी रहता। तब उसे स्वयं अपने पहने कपड़े उतारकर पलड़े में रखने होते। सूट फिर भी भारी रहता। पलड़ों को बराबर करने के लिए उसे तब अपने अंग काटकर रखने होते, अपना कटा सिर रखना होता और अंत में अपना क्षत-विक्षत बेकार धड़। और ऊपर, पिछली दीवार के ठीक बीच में गेंदे की माला में सजी सौम्य आकृति अमृत छिड़काकर उसे फिर से जीवनदान नहीं देती। हां, उसकी मुसकराहट इतना अभयदान और त्राण अवश्य देती कि उसे निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह कांता की गोरी और छरहरी देह रखकर पलड़ों को बराबर कर सकता है···

"कोई भी पसंद नहीं?" कांता ने रोषपूर्ण स्वर में पूछा।

"नहीं!" भूषण ने सहज भाव से कहा।

दूकानदार और उत्साह से उनके सामने नये-नये थान खोलकर दिखाने लगा। भूषण को लगा कि जितने अधिक थान उसके सामने खोले जायेंगे, उतना अधिक उसके लिए इनके बोझ के नीचे से उबरकर दूकान से बाहर निकलना मुश्किल हो जायगा। लेकिन अभी सिर्फ मुश्किल है, बाद में यह बात असंभव हो जायेगी। उसने सहसा अपने को अनिर्णय की स्थिति से मुक्त किया और सारा साहस बटोरकर एक झटके में दूकान से बाहर चला आया।

उसके पीछे दांत पीसती कांता भी दूकान से बाहर आ गई। उसने पीछे से ही भूषण को दबोचा—"ऐसे क्यों निकले?"

"और कैसे निकलता?"

"कोई भी सूटिंग पसंद नहीं आयी?"

"नहीं, सभी पसंद आयीं। इसीलिए तो बाहर निकला।"

"महंगी थी, इसीलिए?"

"मैंने कीमत ही कहां पूछी।"

"आखिर किस पर खीज रहे हो?" कांता ने उसकी बांह पकड़कर पूछा।

भूषण ने हलके से अपनी बांह छुड़ा ली और बहुत ही संयत स्वर में कहा—"देखो, ये सारे कपड़े स्टैंडर्ड मिलों के थे और स्टैंडर्ड मिलों के कपड़ों की कीमत हर शहर में एक जैसे होती हैं। हम यही कपड़ा इसी कीमत पर अपने यहां भी खरीद सकते हैं। आजकल ट्रांसपोर्ट इतना विकसित है कि हर चीज हर जगह मिल सकती है—लगभग एक-जैसी कीमत पर।"

"साड़ियां भी ?"

"हां, साड़ियां भी—लेकिन साड़ियों की बात जरा अलग है। जितनी वेरायटी यहां मिल सकती हैं उतनी अपने शहर में नहीं।"

"नहीं, यह बात नहीं है।"

"फिर क्या बात है ?" भूषण के स्वर का संयम टिकने वाला नहीं था। नहीं टिका।

"तुम दिखाना चाहते हो कि बिना चूं-चां किये कितना भारी बोझ ढो रहे हो। मगर खुद अपनी ही सहनशीलता पर कुढ़ते हो।"

भूषण छटपटाया। कांता इंटर होते हुए भी, या इंटर ही होकर भी कुछ क्यों नहीं करती—यह बात उसने शायद ही कभी सोची हो। इस समय तो बिलकुल ही नहीं सोची थी। उसने चाहा कि वह कड़ककर कांता को डांट दे, या चीखकर उसके सामने अपनी सफाई पेश करे, या रोकर उससे इतनी निष्ठुर न बनने की विनती करे। मगर वह चुप रहा। वह शायद जान गया था कि उसका कड़कना, चीखना या रोना बाजार के शोर और हंगामे में निरर्थक और बेतुका लगेगा।

वह और उसके पीछे-पीछे कांता, बीच में गज-दो गज या इससे भी सैकड़ों गुना दूरी बनाये रखे, चुपचाप बस स्टॉप की ओर सरकने लगे, जहां से बस उन्हें उस संबंधी के घर तक ले जा सकती थी जहां दोनों पिछले तीन दिनों से अनचाहे मेहमान बनकर रह रहे थे।

कथा जीभ की : सवाल अंडे का

किवाड़ बंद था। शायद अन्दर से सिटकनी चढ़ी थी। मैंने पटों की फांक से झांककर देखा तो पैर तले की जमीन खिसक गयी। कोठरी में अंधेरा था। बस केवल रोशनदान से आने वाली रोशनी का स्पॉट वहां पड़ता था, जहां मेरा मित्र खम्भे से बंधा था। उसका मुख भी रूमाल से बंद था। कपड़े जगह-जगह फट गये थे। थोड़ी देर बाद मेरी आंखें जैसे अंधेरे की अभ्यस्त हो गयीं और मुझे उस काली कोठरी में कुछ और भी दिखाई देने लगा। दो अपरिचित व्यक्ति कोठरी की तलाशी ले रहे थे। वे फर्श टटोल रहे थे, ताकचे पर रखी चीजें उलट-पुलट रहे थे, टोकरे-टोकरियां छान रहे थे, पुराने संदूक तोड़-फोड़ रहे थे। एक व्यक्ति कद में छोटा था और दूसरा लम्बा। मगर दोनों ने एक ही तरह की वर्दी-सी पहन रखी थी। जर्द पतलून, आसमानी रंग की कमीजें और पक्के आलूचे के रंग की स्वेटरें। काफी खोज-टटोल के बाद भी उन्हें शायद वह चीज नहीं मिली, जिसकी उन्हें तलाश थी। शायद इसीलिए उन्होंने मेरे मित्र की रस्सी खोल दी और अपने जूतों के तसमे जोर से कस लिये।

मैंने ताड़ लिया कि वे अब चले जाने वाले ही हैं। मैं तनिक दाएं हटकर दीवार की ओट खड़ा हो गया। वे किवाड़ खोलकर बाहर आये। बाहर आकर उन्होंने चारों ओर घूमकर देखा। ज्यों ही उनकी नज़र मुझ पर पड़ी, क्रोध से उनके मुख लाल हो गये। मैंने अक्ल से काम लिया। जेब से सिगरेट का पैकेट निकालकर दोनों को सिगरेटें पेश कीं। छोटे कद वाला आदमी मुसकराया। लम्बे ने जेब से माचिस निकालकर मेरी,

अपनी और अपने साथी की सिगरेटें सुलगायीं। वे दहलीज पर बैठकर सिगरेट फूंकने लगे और मैं चुपके से कोठरी के भीतर चला गया। अपने मित्र को अपनी छाती से भींचकर मैंने उससे पूछा कि आखिर माजरा क्या है? मगर उसने कोई उत्तर नहीं दिया। देता भी कैसे? उसका मुंह अभी तक रूमाल से बंधा था। मैं उन दो आदमियों के पास आया और आर्त दृष्टि से उनकी ओर देखकर दया की भीख मांगने लगा। छोटे के मन में दया आ ही गयी। उसने उठकर वह रूमाल खोला जिससे मेरे मित्र का मुंह बंद था और उसे तह करके अपनी जेब में रखा।

मैंने उसके हाथ चूम लिये। फिर मुंह मित्र के कान के पास ले जाकर उससे धीरे से पूछा—"बात क्या है?"

मेरे मित्र के मुख से कोई बात नहीं निकली।

मैंने अपना प्रश्न दोहराया। मित्र फिर भी चुप रहा। मुझे तनिक शक हुआ। मैंने अपने हाथों से उसका मुंह खोला। सचमुच, उसके मुंह में जबान नहीं थी।

मैंने यार बिरादरी के अन्दाज में अपनापन जताते हुए छोटे की जेब में हाथ डाला और मुसकराकर कहा—"इस बेचारे के साथ मसखरी करने से क्या फायदा? इसकी चीज वापस कर दो और बदबख्त को यहां से दफा करो।"

"क्या वापस करूं?" सिगरेट फेंककर मुझसे पूछा।

"इसकी जबान और क्या?" मैंने उसे दूसरी सिगरेट पेश की।

"तुम्हारी कसम मैंने नहीं चुराई। यह रहा रूमाल।" उसने जेब से तह किया हुआ रूमाल निकालकर मुझे दिखाया।

मैंने उसके हाथ से रूमाल छीनकर झटकारा। मुझे विश्वास था कि रूमाल में से मेरे मित्र की जबान गिर पड़ेगी। मगर उसमें कुछ भी नहीं था। मैंने फिर छोटे की जेबों में हाथ डाले। वे भी खाली थीं।

"इसने खुद जबान कहीं छिपाकर तो नहीं रखी है और हम पर झूठी तोहमत लगा रहा है?" छोटे ने मुझसे पूछा।

"अजी, कहां छिपाकर रखता? वह सड़ नहीं जाती? हां, यदि उसके घर में फ्रिज होता तो अलग बात थी। मेरे कई जान-पहचान के

लोगों ने अपनी जबानें फ्रिजों में बंद रखी हैं। वे वहां ताजा रहेंगी और जब उन्हें जरूरत होगी, तब निकाल लेंगे। मगर वे पैसेवाले हैं। उनके घरों में फ्रिज हैं।" मैंने फिर उससे अनुनय किया—"यदि आपके पास उसकी जबान है तो बेचारे को वापस कीजिए।"

मैंने अपनापन जताते हुए एक बार फिर उसकी जेबों में हाथ डाले। तभी लम्बा आदमी हमारे पास आ गया। अपने साथी की जेब में मेरा हाथ देखकर वह क्रुद्ध हो गया और उसने मुझे डांटा—"हमें इसकी जबान को लेकर क्या चाटना था? हम यहां अंडों की तलाश में आये थे।"

"अंडों की तलाश में?" मुझे आश्चर्य हुआ।

"और नहीं तो क्या? हमें साठ लाख अंडे इकट्ठे करने हैं। अभी तीस लाख अंडे ही जमा हुए हैं।"

"इतने सारे अंडे! आखिर किसलिए?"

"क्या कहा? किसलिए?" उन दोनों ने जोर का ठहाका लगाया।

"आपकी कसम खाकर कहता हूं कि मुझे कुछ भी मालूम नहीं है।" मैंने साफ-साफ बता दिया।

छोटे को मेरे सीधेपन पर शायद दया आ गयी। उसने कहा—"नयी कोठी में 'चिप्स' डालने हैं। सीमेंट मसाला अंडों की सफेदी में तैयार करना है जिससे फर्श अधिक चमकीला बन जाये।"

"कोठी किसकी है?" मैंने फिर पूछा।

मेरा सवाल सुनकर वे फिर हंसने लगे। हंसते-हंसते उनके शरीर दुहरे हो गये—"क्या कहा? किसकी कोठी? हा! हा! हा!!"

मैं खिसियाना होकर वापस अपने मित्र के पास चला आया। वह सुई और धागा लेकर अपने फिरन का फटा गिरेबां सी रहा था। मैंने धीरे से उससे पूछा—"तुम्हें कुछ मालूम है कि यह नयी कोठी किसकी बन रही है?"

उसने कोई जवाब नहीं दिया।

"अच्छा, कम से कम यह तो बताओ कि क्या अंडों के लिए ही तुम्हारे घर की तलाशी हो रही थी?"

इस सवाल का भी उसने कोई जवाब नहीं दिया। तब मुझे होश

आया कि उसके मुंह में जबान ही नहीं है। मुझे लगा कि मैं सचमुच बहुत ही सीधा, यानी मूर्ख हूं।

सिर झुकाकर मैंने चुपचाप अपने घर का रास्ता लिया। मगर उन दो वर्दीधारियों ने मेरी बांह पकड़कर मुझे रोका।

"तो तुम चले ?" छोटे ने पूछा।

"यहां रहकर कर भी क्या सकता हूं।"

"यह अत्याचार देखते हुए भी चुप रहोगे ?"

"कैसा अत्याचार ?"

वह मुझे समझाने लगा—"देखो, यदि तुम्हारे मित्र के घर से अंडे निकल आते तो क्या हम उसे छोड़ते ? हम उससे सारे अंडे छीनकर ले जाते। तब वह खुद क्या खाता ? बच्चों को क्या खिलाता ?"

"न उसके घर में अंडे थे और न उसका कोई बच्चा ही है।" मैंने अपनी ओर से बात खत्म की।

"अगर कोई बच्चा होता तो घर में अंडे भी होते। वे अंडे हम छीन ले जाते और खाने के लिए अंडे न मिलने से उसका बच्चा कमज़ोर हो जाता। कमज़ोर होने से वह बचपन में ही मर जाता। यह अत्याचार नहीं तो और क्या है ?"

"मगर इसमें मैं क्या कर सकता हूं ?"

"क्या नहीं कर सकते हो ? इस अत्याचार के खिलाफ आवाज़ उठा सकते हो।" लम्बे ने कहा। मुझे इस समय वह कुछ अधिक ही लम्बा दिखाई दिया। मैं हैरान हो गया कि वह उस छोटे दरवाज़े से भीतर कैसे घुस पाया था। छोटा अपने पंजों पर खड़ा हो गया और उसने भी मुझसे पूछा—"तुम कोई आवाज़ क्यों नहीं उठाते ? शोर क्यों नहीं करते ?"

मैंने अपना सारा साहस बटोरकर और दिल को मज़बूत बनाकर पूछा—"तुम खुद कोई आवाज़ क्यों नहीं उठाते ? शोर क्यों नहीं करते ?"

"हम क्या कर सकते हैं ? हमारी ड्यूटी लोगों के घरों पर छापे मारकर जैसे भी हो, साठ लाख अंडे इकट्ठा करना है। हम मजबूर हैं।"

छोटे ने कहा।

लम्बा रोने लगा—"जब हम किसी निर्दोष के घर की तलाशी लेते हैं, दड़बों से अंडे उठाकर ले जाते हैं या गरीबों की जेबें टटोलते है कि कहीं इनमें ही माल छिपाया न गया हो तो क्या हमारे कलेजे पर छुरियां नहीं चलतीं ?"

मैंने उसका माथा चूमा और जेब से रूमाल निकालकर उसकी आंखें पोंछने लगा।

"नाक भी पोंछ लो।" उसने रोते-रोते ही कहा।

मैंने उसकी नाक पोंछी और फिर पूछा—"तुम ही कहो हमें क्या करना चाहिए ?"

"क्या करना चाहिए ?" उसने अपने साथी से पूछा।

"मैं क्या कह सकता हूं ?" उसके साथी ने कहा—"वह देखो, वहां एक संत रहता है। क्यों न उसकी राय ली जाए ?"

हम एक महलनुमा मकान के अन्दर चले आये। एक बड़ा-सा हॉल कालीनों से सजा था। बीच में घास-फूस से एक छोटी-सी झोंपड़ी बनायी गयी थी, जिसमें वह संत तकिये से टेक लगाये बैठा था। उसने लाल रंग की इज़ार और सब्ज रंग का कुरता पहना था। सफेद दाढ़ी फर्श चूम रही थी। उनके सामने इलायची और बादाम की दो ढेरियां रखी थीं। एक आदमी जो शायद उसका चेला था और जिसने काली शेरवानी पहन रखी थी, उसके पांव दबा रहा था। मैंने अपने हाथों से संत के पांव छुए और फिर वही हाथ अपने मुंह पर फेरकर मैंने उससे निवेदन किया—"अन्याय और अत्याचार से सारी दुनिया कांप रही है। जाने कौन अपनी कोठी के लिए अंडों की सफेदी में सीमेंट घोलकर गारा तैयार कर रहा है जिसके कारण लोगों के घरों की कुरकी हो रही है। बच्चों और बीमारों को भी खाने के लिए अंडे नहीं मिल रहे हैं।"

छोटे ने ढेरी से एक मुट्ठी बादाम उठाकर संत से कहा—"हां, सचमुच काफी अत्याचार हो रहा है। ममता की मारी मुर्गियां अब अंडों के बदले मिट्टी के ढेलों को सेंकने लगी हैं।"

मुझे लगा कि संत यह सुनकर द्रवित हो गया। मगर उसके चेले पर

कोई भी असर नहीं हुआ। उसने अपना मत प्रकट किया—"यदि मुर्गियों की ममता सच्ची होगी तो मिट्टी के ढेलों से भी प्यारे-प्यारे चूजे निकल आयेंगे।"

संत उसकी ओर देखकर मुसकराया।

मगर मैंने चेले के मत का खंडन किया—"नहीं, मिट्टी के ढेलों से किसी भी हालत में चूजे नहीं निकल सकते हैं। चूजे निकल आने के लिए अंडों का होना बहुत जरूरी है। हां, मुर्गी जरूरी नहीं है। मुर्गी का काम मशीन भी कर सकती है।"

संत मेरी ओर देखकर मुसकराया।

मुझमें और संत के चेले में काफी विवाद चला। न वह मेरी बात माने और न मैं उसकी। मेरे दो साथियों में से छोटे ने मेरा पक्ष लिया और लम्बे ने चेले का। उन्होंने मेरे और चेले के मध्य हो रहे विवाद को हाथापाई की सीमा तक पहुंचा दिया। लेकिन फिर भी जब कोई फैसला नहीं हुआ तो मैंने सन्त के पांव पकड़कर उससे प्रार्थना की—"हे संत शिरोमणि! तुम सिद्ध पुरुष हो, भूत और भविष्य के ज्ञाता हो। तुम ही कहो यह सब क्या है?"

संत मुसकराया, केवल मुसकराया और मुंह से उसने कुछ भी नहीं कहा। असली बात तो हमें चेले से मालूम हुई—संत ने एक वर्ष के लिए मौन व्रत रखा था।

संत ने मेरी ओर देखा और दो-चार इलायचियां मेरी हथेली पर रखीं।

"इनका क्या करना है?" मैंने चेले से पूछा।

"प्रभु का नाम लेकर इन्हें फांक लो। देखते-देखते यह अंडे का भूत तुम्हारे सिर से उतर जायेगा।" यह कहकर वह फिर संत के पांव दबाने लगा। हम तीनों निराश होकर वहां से चले आये।

"सोचा था शायद संत-समागम सफल होगा।" मैंने उदास होकर कहा।

"मैंने सोचा था शायद संत कुछ कहेगा।" छोटे ने कहा।

"मैंने सोचा था शायद संत कुछ करेगा।" लम्बे ने कहा।

"अब?" मैंने उनसे पूछा।

"अब सयाने के पास चलेंगे।" लम्बे ने कहा।

"चलो।" मेरे सामने और कोई चारा भी नहीं था।

छोटा हमारे साथ नहीं आया। वह अपनी ड्यूटी पर चला गया। किसी सिरफिरे ने दस अंडे कहीं छिपाकर रखे थे और उसे पुल से लटकाकर फांसी देनी थी।

हमने एक पुराने मकान के भीतर प्रवेश किया और सीढ़ियां चढ़ने लगे। चौथे तल्ले तक तो मैं ठीक तरह से सीढ़ियां चढ़ा किन्तु उसके बाद मेरा दम फूलने लगा। लम्बे ने मुझे अपने कंधे पर लादा और सातवें तल्ले पर पहुंचा दिया, जहां सयाना रहता था। सयाना इस समय अपनी मेज पर झुका कुछ लिख रहा था। मेज के एक कोने पर रखी कॉफी की प्याली ठंडी हो रही थी। ज्योंही लम्बे ने मुझे अपने कंधे से नीचे उतारा, मैंने सयाने से सवाल किया—"अंडों की उपयोगिता क्या है?"

"अंडों की उपयोगिता ही नहीं, उनकी सार्थकता भी इसी में है कि वे हमारे मुख के रास्ते हमारी अंतड़ियों में पहुंच जायें। कहिये, कॉफी के साथ आप लोग आमलेट लेंगे या एग-सैंडविच?"

"हम यहां कॉफी पीने नहीं, एक सवाल का जवाब पाने आए हैं।" मैंने कहा।

उसने प्याली उठाकर कॉफी की चुस्कियां लीं और पूछा—"सवाल क्या है?"

"सवाल यह है कि यदि अंडों की उपयोगिता खाने में है तो फिर किसी को क्या अधिकार है कि वह अंडों की सफेदी में सीमेंट का गारा तैयार करे।"

उसने दो-एक घूंट में ही कॉफी समाप्त करके प्याली नीचे रखी और कहा—"यह बुनियादी सवाल नहीं है।"

"तो फिर बुनियादी सवाल क्या है?" मैं हैरान हो गया।

उसने आंखों पर से चश्मा उतारा। जेब से रूमाल निकालकर उसे पोंछा और दोबारा उसे पहना। तब बहुत ही संयत स्वर में उसने कहा—"बुनियादी सवाल यह है कि क्या पहले अंडा आया या पहले मुर्गी

आयी ?"

लम्बे कद वाले मेरे साथी ने ज़ोर-ज़ोर से सिर हिलाकर उसकी बात का समर्थन किया ।

"इस सवाल पर आज तक असंख्य लोगों ने सोच-विचार किया है ।" मैंने जवाब दिया—"मगर कोई भी किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सका है। कोई भी यह निश्चित रूप से नहीं बता सका है कि अंडा पहले आया या मुर्गी ।"

"इसलिए तो मैं इस सवाल में डूबा हूं ।" सयाना मेज़ पर झुककर फिर कुछ लिखने लगा ।

"क्या तुम समझते हो कि तुम किसी नतीजे पर पहुंच सकोगे ?" मैंने पूछा ।

"किसी नतीजे पर पहुंचना ज़रूरी नहीं है । ज़रूरी है सवाल के साथ उलझ जाना, उसमें डूब जाना ।"

मुझसे अब नहीं रहा गया । मैंने साफ-साफ कह दिया—"खैर, अंडा पहले आया या बाद में आया, अंडा तो है ।"

"तुम 'होना' किसे कहते हो ?"

इस नये सवाल का मेरे पास बिलकुल कोई जवाब नहीं था। मैं चुप रहा । लम्बे ने मुझे झकझोरा—"सो गये क्या ? बोलो, तुम 'होना' किसे कहते हो ?"

उसके प्रश्न से जैसे मैं जाग गया । मुझे सचमुच झपकी आ गयी थी । सयाने ने मेरे सिर पर धीरे से हाथ फेरकर कहा—"तुमने ऊपर-ऊपर और बाहर-बाहर से ही अंडे को देखा होगा । कभी भी उसके भीतर प्रवेश नहीं किया होगा ।"

'तुमने प्रवेश किया है ?" मेरे बदले लम्बे ने उससे पूछा ।

"हां, किया है, इसीलिए तो कहता हूं ।"

'वहां तुमने क्या देखा ?" मैंने पूछा ।

सयाना उठकर एक छोटी मेज के पास चला गया जहां कॉफी का डिब्बा और केतली में उबलता पानी था । उसने अपने लिए कॉफी की एक और प्याली बनायी तथा टिफन-बॉक्स से एक आमलेट निकाला । आमलेट

खाते और कॉफी पीते हुए उसने मुझसे कहा—"अंडे के भीतर कुछ भी नहीं था । वहां केवल शून्य था । वही शून्य जो तुझमें है, जो मुझमें है, इस लम्बे आदमी में है, इस कमरे में है, आकाश में है, पाताल में है...''

मुझे फिर झपकी आने लगी । लम्बे ने इस बार भी झकझोरकर मुझे जगाया । मेरा हाथ थामकर सीढ़ियों से नीचे ले आया । नीचे छोटा हमारा इन्तज़ार कर रहा था । वह अपनी ड्यूटी देकर आया था और अब यह सुनने को आतुर था कि सयाने ने क्या कहा ?

"इस सयाने ने कुछ नहीं कहा ।" मैंने उसे बताया—"उस संत की तरह इसने भी मौन धारण किया है ।"

मेरी बात सुनकर लम्बे आदमी ने ज़ोर का ठहाका लगाया और फिर अपने सहयोगी से कहा—"सयाने ने विस्तार से सारी बातों का जवाब दिया । इसे कुछ भी मालूम नहीं है । यह बस झपकियां ले रहा था ।"

छोटा मुसकराया । तब उन दो में से एक ने मेरी बायीं बांह पकड़ी और दूसरे ने दाहिनी । एक मुझे बायीं ओर खींचने लगा और दूसरा दाहिनी ओर ।

"इसके लिए बाएं चलना ठीक रहेगा ।" एक ने कहा ।

"नहीं, दाहिने जाना ठीक रहेगा ।" दूसरे ने कहा ।

मैंने झटककर अपनी बांहें उनकी पकड़ से छुड़ा लीं और वहां से भाग खड़ा हुआ । गलियों, बाज़ारों, बागों और खेतों को पार करता हुआ मैं एक खुले मैदान में आ पहुंचा । मैदान के पार अनेक भव्य भवन पेड़ों और फूलों के बीच जैसे छिपे खड़े थे । भवनों के साथ ही चमकती मोटर कारें खड़ी थीं । मैदान में बहुत सारे लोग अपने गिरेबानों में मुंह डाले जैसे अपनी किस्मत को रो रहे थे । सभी गुमसुम और खामोश थे । इनकी यह खामोशी मुझसे सहन न हो सकी । मैं आपे से बाहर होकर ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा— "अपनी किस्मत को ऐसे क्यों रो रहे हो ? उठो, कुछ करके दिखाओ । अभी एक ही आदमी को पुल से लटकाकर फांसी दी गयी । कौन जाने और कितने अभागों का यही हश्र होगा । इन्हें और तीस लाख अंडों की ज़रूरत है । मैं जानता हूं कि तुम्हारे घरों में जितने अंडे

थे, सब इन जालिमों के हवाले कर चुके हो। मगर इन्हें शक है कि तुमने अभी भी बहुत सारे अंडे अपने घरों में छिपाकर रखे हैं। तुम्हारे घरों की हर हफ्ते नहीं, हर रोज तलाशी होगी…"

वे लोग चुपचाप मेरी बातें सुन रहे थे। न जवाब में कुछ कहते थे और न ही कोई सवाल करते थे। मैं कुछ अधिक तैश में आकर कहने लगा—"तुम नहीं जानते कि आदमी की सेहत के लिए अंडा किस कद्र जरूरी है। अंडे में प्रोटीन होता है, उसमें विटामिन होते हैं। तुम्हें खाने को अंडे नहीं मिले, इसीलिए तुम्हारे चेहरे मुर्झाए हुए हैं। इसीलिए तो तुम्हारे मुख से कोई आवाज नहीं निकलती है। मगर आज वह घड़ी आ ही गयी जब तुम्हें कोई न कोई फैसला करना ही होगा। अपने गिरेबानों से मुंह बाहर निकालकर चारों ओर देखो और उठ खड़े हो जाओ। अगर तुम खड़े नहीं हो जाओगे तो कुचले जाओगे। सुनो, मैदान के उस पार मोटर गाड़ियां हॉर्न बजा रही हैं। अगर तुम ऐसे ही बैठे रहे तो इन मोटर गाड़ियों द्वारा कुचले जाओगे। उठो! जागो!…"

पीछे से तालियों की आवाज आयी। मैंने पलटकर देखा कि वही छोटा और वही लम्बा जोर-जोर से तालियां बजा रहे हैं। मैंने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया और अपना भाषण जारी रखा—"कोई हमसे हमारे अंडे क्यों छीन ले? अंडे खाने के लिए हैं, कोठी के फर्श को चमकाने के लिए नहीं। मैं नहीं जानता कि कौन कोठी बनवा रहा है, कौन हमारे अंडे छीन रहा है। मगर वह चाहे जो भी हो, हम उसे मिट्टी में मिला देंगे।"

मुझे लगा कि लोगों में खलबली-सी मच गयी। वे दो-दो, तीन-तीन करके उठने लगे और एक श्वेत वेशधारी व्यक्ति से कागज के पुर्जे लेकर मैदान पार करने लगे। थोड़ी देर में ही सारा मैदान खाली हो गया। मैंने पीछे मुड़कर उन दो जवानों से पूछा कि यह श्वेत वेशधारी व्यक्ति कौन है?

"यही तो वह है।" छोटे ने कहा।

"वह कौन?" मेरी समझ में कुछ नहीं आया।

"वही, और कौन! तुम समझते क्यों नहीं?" लम्बे ने मुझे डांटा।

उसकी डांट से बात कुछ-कुछ मेरी समझ में आने लगी। मैंने उनसे दूसरा सवाल किया—"यह कागज के पुर्जे क्या बांट रहा था?"

"यह इन लोगों को कोठी में प्रवेश करने के लिए अनुमति-पत्र दे रहा था।" छोटे ने जवाब दिया।

"इन लोगों को कोठी में प्रवेश करके क्या करना है?"

"वह तो देखना पड़ेगा।" लम्बे ने कहा और दोनों मेरे हाथ पकड़कर अपने साथ ले चले।

कोठी में दाखिल होते ही एक बहुत बड़ा हॉल था और वे लोग जिनके आगे मैं कुछ देर पहले भाषण दे रहा था, फर्श पर पेट के बल लेटकर अपनी जबानों से सीमेंट चाट रहे थे।

"ये लोग क्या कर रहे हैं?" मैंने लम्बे से पूछा।

"देखते नहीं क्या कर रहे हैं?" उसने कहा—"इस हॉल के फर्श के लिए सीमेंट का गारा अंडों की सफेदी में तैयार किया गया है। ये लोग वही सीमेंट चाटकर प्रोटीन और विटामिन हासिल कर रहे हैं।"

मैं गौर से देखने लगा। लोग फर्श पर उलटी लाशों की तरह पट पड़े थे। न उनकी देह हिलती थी और न ही टांगें या बांहें हरकत करती थीं। केवल उनकी जबान तेज-तेज चलती थी—सीमेंट को चाटकर फिर मुंह के अन्दर चली जाती, फिर निकलती, फिर सीमेंट चाटती और फिर मुंह के अन्दर चली जाती।

मैं आश्चर्यचकित होकर यह सब देख रहा था। तभी वह श्वेत वेशधारी व्यक्ति भीतर आया और फर्श पर हाथ फेरकर मेरे साथी लम्बे जवान से कहने लगा—"लगता है पालिश काफी अच्छी हो गयी।"

"जी, अब तो 'ग्राइंडिंग मशीन' की भी कोई जरूरत नहीं पड़ेगी। हमारे देश में जो अपार जनशक्ति—'मैन पावर' है उसका पूरा-पूरा उपयोग होना चाहिए।" उसने जवाब दिया।

"जी, और जब अंडे और थूक का मेल होता है तो सीमेंट में कुछ ज्यादा ही चमक आ जाती है।" छोटे ने भी अपना मत प्रकट किया। फिर दोनों उस श्वेत वेशधारी के साथ बाहर चले गये। मैं अकेला रह गया। मैंने फर्श में झांककर अपना चेहरा देखा। मुझे अपना चेहरा बहुत ही

भयानक दीखा जिससे मैं खुद ही डर गया। कोई निर्णय नहीं कर पाया कि क्या मेरी सूरत ही वास्तव में ऐसी है या इस नयी कोठी के नये फर्श में ही कोई दोष है। मैंने चाहा कि किसी और से पूछकर असली बात मालूम करूं। मगर वहां कौन था जिससे यह सब पूछता ? जो थे, उनकी जबानें सीमेंट चाटने में लगी थीं। वे मेरी बात का क्या जवाब देते ! चारों ओर चुप्पी थी। शायद मेरे लिए भी यही चुप्पी बेहतर रहेगी। मगर नहीं। मुझमें और मेरे मित्र में केवल मैं ही ऐसा व्यक्ति हूं जिसके पास अभी तक जबान है। मेरे मित्र की जबान खींच ली गयी है। लेकिन मेरे मुंह में अभी तक मौजूद है। और जब तक जबान है तब तक मैं चुप कैसे रह सकता हूं ? मुझे जो भी मिलेगा, उससे पूछकर ही रहूंगा कि क्या मेरी सूरत बिगड़ गयी है या अंडों की सफेदी और थूक से चमकाया गया सीमेंट का फर्श ही कोई छल कर रहा है ?

गुलमोहर

नरेश के नीचे जाने पर सुधा बालकनी में आ गई। अपने खास अंदाज में बालों को झटककर उसने अंगड़ाई ली। सामने सड़क पर गुलमोहर के पेड़ की शाखों और पत्तों से छनकर आ रही तीसरे पहर की धूप उसे बहुत भली लगी। उसने घड़ी देखी। मगर जाने क्यों वह देखकर भी यह न देख सकी कि क्या बजा है। उसे केवल बहुत धीमे चलनेवाली घंटे और मिनट की सुइयों के मुकाबले में बहुत तेज चलनेवाली सेकण्ड की सूई, या फिर उसकी तीव्र गति ही दिखाई दी। वास्तव में यहां आने से पूर्व उसका जीवन भी बाईस वर्ष तक मिनट नहीं, घंटे की सूई की गति से गतिहीनता का आभास देते हुए बीता था। पर इन पन्द्रह महीनों में वह सेकण्ड की सूई बन गयी थी। बहुत कम समय में उसने बहुत ज्यादा चक्कर काटे थे—बहुत ज्यादा गर्दिश देखी थी। और यह सारी गर्दिश निरर्थक नहीं रही थी। उसने बहुत कुछ सीखा था। वह बहुत कुछ बदल गयी थी। इतनी कम अवधि में ही वह उस छोटे शहर में दो छोटे-छोटे कमरों वाले अपने घर को युगों पीछे छोड़ आयी थी। उन दो कमरों में किस प्रकार आठ प्राणी गुजारा करते थे, यह सोचकर आज स्वयं उसे भी आश्चर्य हो रहा था। रोज़ रात को उसे ही बाहर रखी खाटें कमरों के अन्दर लाकर बिछानी पड़ती थीं। खाटें ढोने का दर्द वह आज तक अपनी बांहों में महसूस कर रही थी। अभाव के खौलते पानी में छटपटाता वह जीवन और जिस पर मान-मर्यादा का ढक्कन—वह सचमुच हैरान थी कि बाईस साल तक उसने यह सब कैसे सहा !

वह अन्दर चली गयी और एक सिगरेट सुलगाकर फिर बालकनी में आयी और अपने लम्बे और पतले होंठों को गोल करके वह धुएं के छल्ले उड़ाने लगी जो गुलमोहर के पत्तों से छनकर आने वाली सूरज की किरणों के साथ लुकाछिपी खेलने लगे। उसी समय नरेश कोल्ड ड्रिंक की दो बोतलें लेकर बालकनी में आ गया।

"क्या देख रही हो?" उसने सुधा से पूछा।

"कुछ नहीं। बस सामने वाले पेड़ को देख रही थी यों ही।"

"गुलमोहर को देख रही थी।" वह मुसकराया—"देखो, अभी इसमें एक ही फूल खिला है। पर कुछ ही दिनों में सारा पेड़ लाल-लाल फूलों से लद जायेगा।"

"रियली!" सुधा की आंखें सचमुच फैल गयीं।

"हां, गुलमोहर तो इन्हीं दिनों फूलता है। क्यों, पिछले साल भी तुम यहीं थीं, तब नहीं देखा?"

"नहीं तो," उसने बड़ी मासूमियत से इनकार में सिर हिला दिया।

"हां, तब तुम यहां नयी-नयी आयी थीं। तुम्हारी नजरें इस बड़े शहर की बिल्डिंगों, मोटर गाड़ियों और दूकानों की चकाचौंध में ही उलझकर रह गयी होंगी।" नरेश ने एक बोतल सुधा को थमा दी। सुधा आधी से ज्यादा सिगरेट फेंककर ठंडे की बोतल गटकने लगी। उसे ये कोल्ड ड्रिंक बहुत पसन्द थे, बियर से भी अधिक। पीने के बाद उसके मुंह से जब डकार बाहर आती है तो बहुत हलका महसूस करती है। और सच तो यह है कि बियर उसे कभी रुची नहीं—वैसे पीने को तो वह दो-एक बोतलें पी ही लेती है। अभी उसे भीतर जाकर दो-एक गिलास तो पीने ही होंगे—नरेश को कम्पनी देने के लिए ही सही।

"क्या सोच रही हो?" नरेश ने पूछा।

"कुछ भी तो नहीं।" वह मुसकरायी, "तुम कहो, तुम क्या सोच रहे हो?"

"मैं सोच रहा हूं कि हमारे पास तीन घंटे और हैं। अभी पांच बजे हैं। आठ बजे हम डिनर के लिए कहीं चले जायेंगे। डिनर के बाद मैं तुम्हें तुम्हारे होस्टल छोड़ जाऊंगा और एयरपोर्ट जाकर अपनी ग्यारह बजे की

फ्लाइट का इंतजार करूंगा। बलबीर पहले ही वहां पहुंच गया होगा। वह गाड़ी वापस लायेगा।" नरेश जाकर रेलिंग के सहारे खड़ा हो गया—"तीन घंटे! तीन घंटे बहुत कम होते हुए भी बहुत होते हैं।"

सुधा भी उसके पास चली आयी और उसने उसके कंधे पर अपना सिर रख दिया। वह थोड़ी देर तक उसके बालों के साथ खेलता रहा।

"काश, मेरे हाथ इतने लम्बे होते कि सामने वाले गुलमोहर से उसका यह अकेला फूल तोड़कर तुम्हारे बालों में सजाता!" ये शब्द मुंह से निकलते ही नरेश खुद हैरान हो गया कि उसे इतनी बढ़िया बात कैसे सूझी। इतना रुपया खर्च करने के बावजूद एक एहसास उसे कचोट रहा था कि वह सुधा के लिए कुछ खास नहीं कर सका है। किन्तु अब उसे लगा कि यह वाक्य बोलकर उसने सुधा के ऋण का एक बड़ा भाग चुका दिया। सुधा के काले घने बालों में सचमुच गुलमोहर का लाल फूल खूब सजेगा। सुधा का रूप ही नहीं, काली बैकग्राउंड पाकर खुद फूल की लालिमा भी निखर उठेगी। वह गद्‌गद हुआ कि यह सुन्दर और रोमांटिक बात उसके मन में अपने आप ही कैसे आयी। उसके मुंह से ये शब्द अनायास ही कैसे फूट पड़े! निश्चय ही कुछ बहुत अच्छा और शुभ घटने वाला है। उसे लगा कि जापानी फर्म के साथ कोलेबरेशन की बात कल जरूर फाइनलाइज होगी।

लेकिन यह क्या? उसे सहसा धक्का-सा लगा। गुलमोहर के पेड़ के नीचे यह कौन है जो चित पड़ा है। कोई दुबला-सा, सूखा-सा नौजवान है। पास ही गोलगप्पे का टोकरा और पानी का मटका भी है। सो रहा है या मरा पड़ा है। नहीं, मरा नहीं है, बीच-बीच में वह बेचैनी से अपना सिर पटकता है। नरेश का रसभंग हो गया। उसने सुधा का सिर अपने कंधे से अलग किया। गोलगप्पेवाले ने सारा गुड़ गोबर कर दिया था। इसे यहां आकर उसी की कोठी के सामने मरना था। इतनी बड़ी दुनिया में उसे और कोई जगह नहीं मिली क्या! लगता है कि वह धूप में बहुत दूर से चलकर यहां आया है और उसे लू लगी है। मगर वह यहां आया ही क्यों? यह कोई बाबुओं की बस्ती थोड़े ही थी कि उसके गोलगप्पे हाथों-हाथ बिकते। काश, कोई आता और उसे यहां से उठाकर अस्पताल या

कहीं और ले जाता। वह अपनी जेब से सौ रुपये तक देने को तैयार था। मगर आदमी क्या, इस समय वहां से कोई कुत्ता भी नहीं गुजर रहा था। नरेश बहुत परेशान हो गया। लेकिन उसे कोई उपाय नजर नहीं आया। तब उसने मन को सांत्वना दी कि उसकी परेशानी निर्मूल है और वह अन्दर चला आया। सुधा भी उसके पीछे-पीछे आयी।

"कहो, डिनर कहां लेंगे ?" उसने सुधा से पूछा।

"जहां तुम चाहो।" सुधा ने कहा।

"तुम्हारी मर्जी।" सुधा खिलखिलायी—"मेरी मर्जी यह है कि बिना कुछ खोये-दिये, जितना भी समय अपने पास है, तुम्हारे साथ यहीं बैठी रहूं या फिर गाड़ी में तुम्हारी बगल में बैठकर इस नयी दिल्ली की खुली लम्बी सड़क पर दौड़ती रहूं—बस, दौड़ती रहूं।"

नरेश मुसकराया। सुधा कुछ निश्चय नहीं कर पायी कि इस मुसकराहट में उसकी नादानी का उपहास छिपा है या उसकी भावना की कद्र। उसने दूसरी बात छेड़ी, "आज बहुत दिनों के बाद ऐसा खूबसूरत दिन आया।"

"सो तो है ही, लेकिन···" कहकर वह फिर बालकनी में चला आया। गोलगप्पे वाला अभी भी कबाब में हड्डी बना गुलमोहर के नीचे अचेत पड़ा था। इस समय बेचैनी से उसका सिर नहीं हिल रहा था। केवल छाती में सांस का उतार-चढ़ाव नजर आता था। नरेश के मन में एक आशंका ने सिर उठाया। अभी तो इधर से कोई नहीं गुजर रहा है किन्तु एकाध घंटे के बाद केवल बिछौने वाले मजदूरों को छुट्टी मिलेगी। अपनी झुग्गियों में जाने के लिए वे यहीं से गुजरेंगे। वे न सही, धूप तनिक मंद होते ही बहुत सारे निठल्ले इस आदमी के आसपास जमा होंगे। एक हंगामा खड़ा होगा। और यदि बाहर हंगामा हो तो क्या वह भीतर सुखी रह सकता है ? तभी उसकी दृष्टि कीआॅस्क के छोकरे पर पड़ी जो ६०३ की चार-पांच बोतलें लिये एक कोठी की ओर जा रहा था। नरेश ने अपनी पोजीशन का कोई खयाल किये बिना उस छोकरे को आवाज दी और उसे इशारे से समझा दिया कि वह गोलगप्पे वाले के पास जाकर बात मालूम करे। छोकरे ने अपने पांव का रुख गुलमोहर की ओर किया ही था कि कीआॅस्क के मालिक सरदारजी की नजर उस पर पड़ी और वह

तीर की तरह बगल वाली कोठी में चला गया।

नरेश को गोलगप्पे वाले के साथ-साथ इस छोकरे और उसके मालिक सरदारजी पर भी क्रोध आने लगा। ये सब मिलकर उससे किस दुश्मनी का बदला ले रहे हैं। क्यों उसके उजले दिन और रंगीन शाम को चौपट करने पर तुले हैं। आखिर उसने इन लोगों का क्या बिगाड़ा है।

वह अन्दर चला गया। सुधा पर्दे को पकड़े खड़ी थी। गोलगप्पे वाले को देखकर उसे भी थोड़ा धक्का लगा था। उसे लगा कि गोलगप्पे वाले की शक्ल उसके छोटे भाई से मिलती है। लेकिन वह जल्द ही संभल गयी थी। उसने समझ लिया कि उसका विगत अब भी उसका पीछा कर रहा है। यदि वह निर्मम होकर अपने को उसके चंगुल से मुक्त नहीं कर पायेगी तो जीवन में कुछ नहीं कर सकेगी। नरेश का उत्साह ठंडा पड़ गया है, यह उसने भांप लिया। उसने पर्दा गिरा दिया और नरेश के गले में बांह डालकर वह उसका मूड ठीक करने लगी, "क्यों दुनिया-जहान के बारे में सोचकर परेशान होते हो ? क्या तुम्हें नहीं लगता कि इस समय हमारी दुनिया इसी कमरे में सिमट आयी है ?"

नरेश के सूखे होंठ फिर खिल उठे। उसे लगा कि सुधा ने बिलकुल सही बात कही। तीन युगों से भी अधिक मूल्यवान दो-तीन घंटे क्या व्यर्थ की चिंताओं में गंवाने के लिए हैं ! उसने पैकेट खोलकर एक सिगरेट सुधा को थमा, एक खुद सुलगायी।

सुधा ने शरारत से सिगरेट का धुआं उसके मुख पर छोड़ते हुए उससे पूछा, "कहो, वापस कब आओगे ?"

"यही कोई दस-पन्द्रह दिन के बाद।"

"ठीक है। तब तक मेरे एक्जाम भी हो चुके होंगे और···यह गुलमोहर भी पूरी तरह फूला होगा।"

सुधा की बात सुनकर नरेश का मन फिर उधर गया। वह सिगरेट फेंककर खड़ा हो गया और उसके पांव धीरे-धीरे बालकनी की ओर बढ़ने लगे। सुधा ने नहीं सोचा था कि उसने वैसे ही जो बात कही थी उसकी ऐसी प्रतिक्रिया होगी। उसे विश्वास हो गया कि उसकी नासमझी अभी तक नहीं गयी। उसकी आंखों में आंसू तैरने लगे।

एक दफ्तर-कथा

कमरा बड़ा-सा था और उसमें चार टेबुल लगे थे। दरवाजे के सामने खिड़की की बायीं ओर हैड-क्लर्क काशीनाथ का टेबुल था। उस टेबुल से ज़रा हटकर टाइपिस्ट मखनलाल का टेबुल था। खिड़की की दायीं ओर कैम्प-क्लर्क मुहम्मद अशरफ का टेबुल था। और दरवाजे के पास बिना मेज़पोश का टेबुल मेरा था। डिविजनल इंजीनियर, श्रीनगर डिवीजन के दफ्तर का शेष स्टाफ अन्य तीन कमरों में बैठा करता था।

जब क्लर्क महीउद्दीन अनन्तनाग डिवीजन से तबदील होकर हमारे दफ्तर में आया तो साहब ने आदेश दिया कि उसका टेबुल भी इसी कमरे में लगेगा। आदेश का पालन किया गया। कैम्प-क्लर्क का टेबुल खिड़की के पास से हटाकर टाइपिस्ट मखनलाल के टेबुल की सीध में लगाया गया और उसके स्थान पर महीउद्दीन का टेबुल लगा। कैम्प-क्लर्क मुहम्मद अशरफ ने उसे अपना अपमान समझा और उस दिन उसने किसी के साथ कोई भी बात नहीं की। केवल एक बार बड़बड़ाया, "साहब को चाहिए कि वह अपने आदमियों का टेबुल अपने कमरे में लगाये। सीनियर क्लर्कों की बेइज्जती करने का उसे कोई हक नहीं है।"

अगले दिन साहब का चपरासी हेड-क्लर्क काशीनाथ के पास दूसरा 'आर्डर' लेकर आया। साहब ने लिखा था कि हेड-क्लर्क के ज़िम्मे काफी से ज्यादा काम है। अतः वह टेंडर का काम नये क्लर्क महीउद्दीन को सौंपकर अपने कार्य-भार को हल्का करें। साहब का आर्डर था, इसलिए हेड-

क्लर्क को यह बात चुपचाप माननी पड़ी। किन्तु एक बजे के करीब जब महीउद्दीन और मुहम्मद अशरफ जुम्मे की नमाज अदा करने के लिए दफ्तर से निकले, उसने टाइपिस्ट मखनलाल से कहा, "कश्मीर में तो अब पूरी तरह से मुसलमानों का राज आ गया है। देखा, किस तरह हिन्दू के मुंह से रोटी छीनकर मुसलमान को दी जा रही है।" और फिर मानो पुरानी बातें याद करता हुआ, उनमें रस लेता हुआ बोल उठा, "जिसका टेंडर मंजूर होता था मैं उससे पचास-साठ रुपये ज़रूर लेता था किन्तु प्रत्येक को 'चाय-पानी' देता था। क्या यह महीउद्दीन भी ऐसा करेगा?"

हेड-क्लर्क ने बात इस ढंग से पूछी थी कि टाइपिस्ट मखनलाल को कहना ही पड़ा, "जाने दीजिए!" फिर चारों ओर सतर्क होकर देखने के बाद उसने काशीनाथ के कान के पास मुंह ले जाकर कहा, "कैम्प-क्लर्क भी महीउद्दीन से मिला हुआ है। कल का मन-मुटाव हमें दिखाने के लिए था।"

हेड-क्लर्क अपने मत का समर्थन पाकर प्रसन्न हुआ और उसने टाइपिस्ट से एक सिगरेट मांगी। टाइपिस्ट ने जेब से सिगरेट निकालते हुए कहा, "तीन साल से लगातार टाइप करते-करते मेरी कमर टूट गयी है। यह महीउद्दीन टाइप जानता है। इसलिए चाहिए तो यह था कि इसे टाइप पर लगाकर मुझे कोई और काम दिया जाता। मैं अब जल्द ही तीन महीने की 'प्रिविलेज लीव' पर चला जाऊंगा। मुझे दफ्तर से ज्यादा अपनी जान प्यारी है।"

"मैं 'रिकमंड' करूंगा।" हेड-क्लर्क ने सिगरेट सुलगाते हुए कहा।

महीउद्दीन का अनन्तनाग से तबदील होकर हमारे दफ्तर में आ ना मुझे भी अच्छा न लगा था। मैं क्लर्क नहीं था, वरन् सवा रुपया रोज़ पर काम करनेवाला सड़क-कुली था जिससे दफ्तर में डिस्पैच का काम लिया जाता था। मैंने इसी वर्ष मैट्रिक पास किया था। आगे पढ़ाने के लिए न घरवालों के पास पैसे थे और न ही मेरी विशेष इच्छा थी। रही बात नौकरी की, वह काफी दौड़-धूप के बाद भी नहीं मिली। आखिर मेरे पिताजी के एक मित्र की कृपा से मेरा नाम पी० डब्ल्यु० डी० में सड़क कुलियों के एक 'मस्टर शीट' पर लिखा गया और मैंने अपने को भाग्य-

शाली समझा। पंडित (कश्मीरी पंडित) था, मैट्रिक पास था, अतः कुदाल-फावड़े के स्थान पर मेरे हाथ में कलम-कागज दिया गया और सड़क पर काम करने के स्थान पर मैं दफ्तर में डिस्पैचर का काम करने लगा। टेबुल (बिना टेबुल-क्लॉथ के ही सही) और कुर्सी पर बैठने से तो मैं 'सड़क कुली' रहा ही न था। पर न जाने क्यों मैंने अपने परिचितों को यह भी नहीं बताया कि मैं क्लर्क हूं। मैंने अपने मुहल्ले में घोषित किया था कि मेरी नियुक्ति 'पब्लिक वर्क्स' महकमे में 'अटैच्ड-ओवरसीयर' के रूप मे हुई है। 'अटैच्ड-ओवरसीयर' नाम का कोई पद होता भी है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। किन्तु पड़ोस में अपनी धाक जमाने के लिए मुझे यह शब्द बहुत ही उपयुक्त लगा। अटैच्ड-ओवरसीयर—जो भले ही ओवरसीयर न हो, पर क्लर्क से निश्चय ही श्रेष्ठ होगा। आज तक मुहल्ले में सभी लोग मुझे अटैच्ड-ओवरसीयर ही समझते थे पर अब किसी भी समय मेरा भंडाफोड़ हो सकता था। बात यह थी कि अनन्तनाग से तबदील होकर आया क्लर्क महीउद्दीन मेरे ही पड़ोस में आकर रहने लगा था। मैं प्रतिदिन भगवान से मांगता कि महीउद्दीन पर किसी भयानक बीमारी का हमला हो जाय और वह छुट्टी लेकर वापस अपने घर अनन्तनाग चला जाय। या फिर हेड-क्लर्क के साथ उसका दफ्तर में झगड़ा हो जाय। आपस में मारपीट हो जाय। मारपीट की रिपोर्ट चीफ इंजीनियर तक पहुंच जाय और वह क्रुद्ध होकर एक को लेह तबदील करे और दूसरे को पुंछ···! पर ऐसी कोई बात नहीं हुई। हेड-क्लर्क और महीउद्दीन में कोई झगड़ा नहीं हुआ। हेड-क्लर्क मन-ही-मन महीउद्दीन से जलता था पर प्रकट कुछ नही कहता था।

महीउद्दीन को आये लगभग एक सप्ताह हुआ था कि साहब ने साठ हजार रुपये की लागत से तैयार होने वाली एक नयी सड़क के लिए 'टेंडर' शीघ्रतिशीघ्र निकालने का आदेश दिया। साठ हजार रुपये!···उस दिन हेड-क्लर्क का मन काम में बिलकुल नहीं लगा और उसने दिन में तीन बार महीउद्दीन को डांटा। पहली बार पन्द्रह मिनट देर से दफ्तर आने पर, दूसरी बार चीफ इंजीनियर के पास जाने वाली चिट्ठी का 'ड्राफ्ट' अशुद्ध अंग्रेज़ी में लिखने पर और तीसरी बार बिना किसी

कारण के। किन्तु हर बार महीउद्दीन ने शान्त भाव से अपनी गलती स्वीकार की और हेड-क्लर्क का क्रोध भीतर ही रहकर उसे छटपटाता रहा।

तीन दिन के बाद टेंडर-फार्म लेने की अन्तिम तिथि थी। फार्म लेने के इच्छुक बहुत से ठेकेदार महीउद्दीन की मेज को घेरे थे। महीउद्दीन एक बजे दिन तक फार्म देता रहा, पर एक बजते ही उसने रजिस्टर बंद किया और टांगें पसारकर सिगरेट के कश लेने लगा।

"बाकी लोगों को फार्म नहीं मिलेगा?" एक ठेकेदार ने हैरान होकर पूछा।

"नहीं। एक बजे के बाद कोई फार्म 'इश्यु' नहीं होगा।"

"लेकिन पहले तो हम चार बजे तक फार्म लेते थे। आज क्या साहब ने कोई नया आर्डर निकाला है?" दूसरे ठेकेदार ने पूछा।

"यह साहब का आर्डर नहीं, मेरा आर्डर है।" महीउद्दीन ने कहा।

"आपका आर्डर!" ठेकेदारों के विस्मय में वृद्धि हुई।

"हां, 'टेंडर नोटिस' में लिखा है कि फार्म एक बजे तक ही 'इश्यु' होंगे। यही 'रूल' है।"

"फिर तो 'टेंडर नोटिस' में बहुत-सी बातें लिखी होती हैं। क्या उन सबका पालन होता है?" एक ठेकेदार ने प्रश्न किया।

"आप रूल की बात करते हैं?" दूसरे ने पूछा, "रूल तो यह है कि पब्लिक वर्क्स के किसी भी अफसर का कोई भी रिश्तेदार ठेकेदारी नहीं कर सकता और आपके साहब के भाई, साले, चाचे, मामे सभी ठेकेदारी करते हैं।"

"साहब के चाचे-मामे ठेकेदारी करते हैं तो तुम्हारी छाती क्यों फटती है? तुम अपनी बात करो।" एक ठेकेदार को साहब पर लांछन लगाने की बात बुरी लगी।

"तुम मुझे समझाने वाले कौन हो?" पहले ठेकेदार ने उत्तर दिया, "कबाइली हमले से पहले श्रीनगर की गलियों में मटर-छोले बेचा करते थे और आज बने हो 'ए' क्लास ठेकेदार। अवामी राज (लोक-राज) तो

तुम्हीं लोगों के लिए आया !"

"मैं जानता हूं तुम पाकिस्तानी (पाकिस्तान के समर्थक) हो।"

"मैं पूछता हूं तुम कौन-से हिन्दुस्तानी हो ?"

दोनों ठेकेदार आपस में गुत्थमगुत्था होने वाले ही थे कि हेड-क्लर्क अपनी कुरसी से उठकर गरजा, "यह दफ्तर है या अखाड़ा ? मैं अभी तुम दोनों ठेकेदारों को 'ब्लैक लिस्ट' कराता हूं।"

"तुम जी चुप रहो !" साहब और अवामी-राज का समर्थक ठेकेदार भी दुगुने आवेश से गरजकर हेड-क्लर्क के टेबुल की ओर बढ़ा। हेड-क्लर्क लाल-लाल आंखें किए उसकी ओर लपका। चिट्ठियों पर नम्बर लगाने वाला मेरा हाथ सहसा रुक गया और किसी अनिष्ट की आशंका से मेरा सारा शरीर कांप उठा। किन्तु हुआ कुछ नहीं। बीच में पहुंचकर वे दोनों आपस में गले मिले। हेड-क्लर्क ने उसने दो दिन पूर्व सेंकशन हुए एस्टीमेटों का कमीशन मांगा, और ठेकेदार ने तीन-चार दिन तक सारा पुराना हिसाब चुकता करने का उसे आश्वासन दिया। फिर दोनों कमरे से बाहर निकले। बाहर आकर हेड-क्लर्क ने सहानुभूति दिखाई, "क्यों, नहीं मिला फार्म ? खैर, तुम्हारा अपना मुसलमान भाई है यह नया 'टेंडर' क्लर्क। मैं तो नौ बजे रात तक भी फार्म इश्यु करता था। क्यों है, न सच्ची बात ?"

"आप जैसा शरीफ आदमी तो चिराग लेकर ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। लेकिन यह बताइए, अब हम क्या करें ?" थोड़ी-सी चापलूसी के बाद ठेकेदार ने मतलब की बात पूछी।

"जाओ जी, उसे फार्म देने के लिए मजबूर करो। उसे बता दो कि तुम कौन हो। या फिर इशारा ही दो।" कहकर हेड-क्लर्क मुसकराता हुआ बाथरूम की ओर जाने लगा। बच्चू, अब आटे-दाल का भाव मालूम होगा ! जानता नहीं यह ठेकेदार कितना बड़ा नेशनल-कांफ्रेंसी है ? रूल की बात करता है—रूल का साला···!

हेड-क्लर्क की बातों से उत्साहित होकर वह तथा अन्य ठेकेदार महीउद्दीन के पास चले गये और गरम होकर बोले, "हमें 'टेंडर फार्म' चाहिए।"

"फार्म नहीं मिल सकते।" महीउद्दीन की भौंहें भी तन गयीं।

"क्यों नहीं मिल सकते ? हेड-क्लर्क ने कहा है।"

"हेड-क्लर्क ने कहा है ? महीउद्दीन की तनी भौंहें ढीली पड़ गयीं और चेहरे पर मुसकराहट आ गयी—"हेड-क्लर्क ने कहा है तो आप इस वक्त फार्म ले सकते हैं। मगर आगे ऐसा नहीं हो सकता।"

कुछ देर के बाद हेड-क्लर्क जब कमरे में आया तो उसे यह देखकर बड़ा दुख हुआ कि ठेकेदार महीउद्दीन से हंस-हंसकर बातें कर रहे थे। इतना दुख कि दफ्तर में उसका दिल नहीं लगा, और वह दो घटे की 'शॉर्ट लीव' लेकर घर चला गया। कैम्प-क्लर्क मुहम्मद अशरफ साहब के साथ बारह बजे ही दौरे पर चला गया था। टाइपिस्ट तो सुबह से ही छुट्टी पर था। यानी अब कमरे में केवल हम दो आदमी थे—महीउद्दीन और मैं।

साहब दौरे पर गया है और हेड-क्लर्क छुट्टी लेकर चला गया है—इससे बढ़िया अवसर मुझे कब मिल सकता था ! मैंने टेबुल पर बिखरे कागजों को समेटकर ट्रे में रखा। रीगल सिनेमा में नयी फिल्म लगी थी—'सरोवर की सुन्दरी'। दो बजे शो लगता है और अभी डेढ़ ही बजा था। इस दफ्तर में काम करने से और कोई लाभ मुझे भले ही न हुआ हो किन्तु सिनेमा मैं खूब देखने लगा था। जिस दिन मुझे किसी ठेकेदार या ओवर-सीयर से रुपया-अठन्नी मिलती, मैं दो बजे ही दफ्तर से भागकर सिनेमा देखने चला जाता। जब कहीं से पैसे न मिलते तो कैम्प-क्लर्क मुहम्मद अशरफ से मांगता। उसकी जेब सदा नोटों से भरी होती थी। दिल भी उसका फैयाज था। किन्तु आज न मुझे कहीं से पैसे मिले थे और न ही मुहम्मद अशरफ इस समय दफ्तर में था। खैर, कुछ न कुछ करना ही होगा ! ऐसा अवसर फिर शायद ही कभी मिले ! मैंने निश्चय किया कि आज महीउद्दीन से ही एक रुपया उधार मांगूंगा। मैं उठकर उसके पास चला गया, किन्तु वहां पहुंचकर पांव ठिठक गये। वह अपने आसपास बैठे चार-पांच ठेकेदारों को बड़े धीमे स्वर में कुछ समझा रहा था। मैं उनकी ओर पीठ करके यूं ही हेड-क्लर्क की मेज पर पड़ी फाइलों के पन्ने उलटने लगा। पर कान उनकी ओर ही थे। महीउद्दीन कह रहा था—"आप लोग वहां फिजूल के कम्पीटीशन में पड़कर कम से कम लागत पर

काम करने के लिए टेंडर देते हैं। पर काम तो आखिर एक ही आदमी को मिलता है और जिसे मिलता है वह भी खास फायदे में नहीं रहता है। आप लोग आपस में 'बरादरी' क्यों नहीं करते, जैसा कि हर जगह होता है। देखिए, इस काम के लिए आठ फार्म निकाले गए हैं। आप ये आठों फार्म एक ही आदमी के हाथ में दीजिए और वह बदले में बाकी सात आदमियों को हजार-हजार या जो रकम आप मुनासिब समझें, देगा। फिर वह अपना टेंडर सबसे कम रखकर भी काफी ऊंचा रख सकता है। डेढ़ सौ फीसदी 'रेट' पर 'अलॉट' होने वाला काम, दो सौ फीसदी पर अलॉट हो सकता है···"

मैं सारी बातें अच्छी तरह नहीं समझ सका। अच्छी तरह समझने के लिए मैं अधिक सतर्क होकर उनकी बातें सुनने लगा। मगर अब 'टेंडर-परसेंटेज', 'अलॉटमेंट', 'प्रोजेक्ट एस्टीमेट', 'अर्थ वर्क', 'मेटलिंग' आदि की बातें हो रही थीं जो मेरी समझ में और भी कम आयीं। महीउद्दीन बातों में इतना व्यस्त था कि मुझे उससे पैसे मांगने का साहस ही न हुआ। इधर पहले शो का टाइम भी हाथ से निकल गया था। मैं मन मसोसकर बाकी चिट्ठियां भी डिस्पैच करने लगा।

अगले दिन दफ्तर में काम का काफी जोर रहा। चीफ इंजीनियर साहब ने अगले साल का बजट दो दिन के भीतर तैयार करने का आदेश दिया था। हमारे ब्रांच के सभी क्लर्क हेड-क्लर्क की मेज के गिर्द बैठे थे। किसी के हाथ में कोई फाइल थी, किसी के हाथ में किसी निर्माण-कार्य का एस्टीमेट था। हेड-क्लर्क सिगरेट पर सिगरेट फूंके जा रहा था और कैम्प-क्लर्क को विभिन्न निर्माण-कार्यों के नाम तथा उन पर व्यय होने वाली धनराशि लिखने में मार्गदर्शन कर रहा था। सारे क्लर्क व्यस्त थे। जो व्यस्त न थे, वे भी फाइलें पलटने और तेज-तेज सिगरेट फूंकने के द्वारा व्यस्त होने का उपक्रम कर रहे थे। पर मैं इन सब झमेलों से अलग अपनी मेज पर झुका हुआ अपनी ही चिन्ताओं में मग्न था। इतना अच्छा अवसर मिलने पर भी मैं कल 'सरोवर की सुन्दरी' नहीं देख सका था। आज कैम्प-क्लर्क मुहम्मद अशरफ दफ्तर में मौजूद था और मुझे एक रुपया उधार मिल सकता था, किन्तु आज फुर्सत नहीं।

चीफ साहब को भी आज ही अगले साल के बजट की जरूरत पड़ गयी थी। काश, किसी मिनिस्टर या नेता की मृत्यु हो जाती और दफ्तर अभी बन्द हो जाता ! काश···

"अरे, महीउद्दीन कहां है ?" हेड-क्लर्क की आवाज सुनकर मेरा ध्यान टूटा। सचमुच अभी तक महीउद्दीन दफ्तर नहीं आया था।

"हम सब यहां काम के जोर से मर रहे हैं और वह घर में बैठा ऐश कर रहा है, सो भी बगैर छुट्टी की दरख्वास्त के।" हेड-क्लर्क ने आदत के अनुसार अपना निचला होंठ चबाते हुए कहा। फिर कुछ क्षण सोचकर उसने महीउद्दीन की गैरहाजिरी की रिपोर्ट लिखी। रिपोर्ट लिखकर वह साहब के पास भेजने वाला ही था कि एक आदमी महीउद्दीन की दरख्वास्त लेकर आया। हेड-क्लर्क अपने इस तीर को भी खाली जाता देखकर बौखलाया और उस आदमी पर बरस पड़ा, "नहीं, इतना वक्त गुजरने के बाद आने वाली दरख्वास्त मंजूर नहीं हो सकती। मैं उसे सस्पेंड करूंगा, डिसमिस कराऊंगा।"

वह भला आदमी बिना कोई प्रतिवाद किए, दरख्वास्त वहीं मेज पर रखकर चला गया। उसके चले जाने पर हेड-क्लर्क ने महीउद्दीन की अर्जी पर एक लम्बा-सा नोट लिखा और मुझे पास बुलाकर कहा, "यह अर्जी महीउद्दीन के घर जाकर उसे वापस कर दो और कह दो कि अभी दफ्तर में हाजिर हो जाय। चीफ साहब को कल तक अगले साल का बजट मिलना चाहिए। साथ ही यह भी कहना कि यदि वह नहीं आयेगा तो उसे सस्पेंड किया जायेगा।"

यह काम मेरा नहीं, चपरासी का था। किन्तु मैंने सहर्ष स्वीकार किया। मैंने हेड-क्लर्क के हाथ से कागज लिया और दफ्तर से निकला। अभी साढ़े बारह बजे ही थे और सिनेमा का शो ढाई बजे शुरू होने वाला था। फुर्सत मिली तो पैसों का इन्तजाम भी हो सकता है।

एक बजे के आसपास मैं महीउद्दीन के घर पहुंचा। फेमिली उसकी अनन्तनाग में ही थी, अतः मैंने बाहर से आवाज देना या द्वार खटखटाना उचित न समझा और सीधा द्वार खोलकर भीतर चला गया। पर सहसा मैं ठिठक गया। कमरे में महीउद्दीन के अतिरिक्त कल के उन ठेकेदारों में

से एक आदमी भी था और सामने पांच रुपये के नोटों का एक बड़ा-सा बंडल था। इतने सारे नोट इससे पहले मैंने बहुत ही कम बार देखे थे। मेरे मुख से कोई भी शब्द नहीं निकला, और मैंने जेब से कागज़ निकालकर महीउद्दीन के सामने रखा। हेड-क्लर्क का नोट पढ़कर वह बिलकुल विचलित नहीं हुआ। उसने कागज़ पर भी कुछ नहीं लिखा। केवल जबानी इतना कहा, "काशीनाथजी से कहना, मेरी तबीयत आज ठीक नहीं है। मैं दफ्तर नहीं आ सकता।"

मैंने कागज़ उठाकर जेब में रखा और चल पड़ा। अभी मैं दरवाजे के पास ही था कि महीउद्दीन ने मुझे आवाज दी। मैं उसके पास चला गया। उसने बंडल में से पांच-पांच के दो नोट निकाले और मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा, "लो, चाय पियो।"

मुझे विस्मय हुआ, पर अधिक नहीं। कुछ झिझकते हुए मैंने महीउद्दीन से नोट लिये। नोट जेब में रखकर मैं काफी प्रसन्न हुआ। मुझे महीउद्दीन को हेड-क्लर्क का संदेश देना याद ही नहीं रहा कि यदि वह दफ्तर नहीं आयेगा तो उसे सस्पेंड किया जायेगा।

भगवान जब देता है तो छप्पर फाड़कर देता है। मैंने फर्स्ट क्लास में सिनेमा देखा। सिनेमा से निकलकर अच्छे-से रेस्तरां में चाय पी। चाय के साथ मक्खन, टोस्ट और कबाब खाये। साढ़े चार रुपये में सुन्दर-सा मफलर खरीदा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उस दिन बहुत ही लुत्फ रहा। इतना लुत्फ रहा कि दूसरे दिन मैं साढ़े दस के स्थान पर साढ़े ग्यारह बजे दफ्तर पहुंचा। पर मेरे देर से आने की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। वहां कमरे के सारे क्लर्क महीउद्दीन को घेरे हुए थे। हेड-क्लर्क बहुत ही खुश दीख रहा था और महीउद्दीन के साथ हंस-हंसकर भारत और इंग्लैंड के मध्य हो रहे टेस्ट-मैच के बारे में बात कर रहा था। टाइपिस्ट मखनलाल ने 'बजट प्रपोजल' मशीन पर चढ़ाए थे और टाइप करते-करते बीच-बीच में वह एक निराले आदर भाव से महीउद्दीन की ओर देखता था। कैम्प-क्लर्क मुहम्मद अशरफ ने अपनी कुरसी महीउद्दीन के समीप लगाई थी और वह सिर हिलाकर उसकी बातों का समर्थन कर रहा था। लगभग बीस मिनट के बाद यह गोष्ठी विसर्जित हुई

और हेड-क्लर्क की दृष्टि मुझ पर पड़ी।

"अच्छा, डिस्पैचर साहब तशरीफ लाये! पूरे बारह बजे।"

मैं क्या कहता? चुपचाप नज़रें नीची किए कागजों के ढेर से तार और दूसरे 'अर्जेंट' पत्र छांटने लगा। पर हेड-क्लर्क ने कोई नाराज़गी नहीं दिखायी। अपने स्वर में यथेष्ट कोमलता लाकर वह मुझे समझाने लगा—

"देखो भाई, तुम अभी आयु में छोटे हो। ऐसे काम नहीं चलेगा। क्लर्क बनना है तो काम सीखना पड़ेगा। मेहनत करनी पड़ेगी। देखो, दस-बारह दिन ही महीउद्दीन साहब को इस दफ्तर में आये हुए हैं। पर काम जानते हैं, मेहनत करते हैं, इसलिए साहब इनकी इज्जत करते हैं। मैं इज्जत करता हूं। हम सब इज्जत करते हैं।"

और मैंने सच्चे मन से प्रण किया कि मैं भी काम सीख लूंगा। मेहनत करूंगा।

टोपी

सालन और सब्जियां पककर तैयार हो चुकी थीं और अब मां हल्की-हल्की आंच पर खिचड़ी पका रही थी। रूपा भी चौके में बैठकर सास का हाथ बटा रही थी। हाथ क्या बटा रही थी, वास्तव में सारा काम उसी ने किया था। हां, मां ने उसे रोज की तरह चूल्हे के आगे बैठने नहीं दिया था। आज पौष की अमावस्या थी। कुबेर की पूजा का दिन था। अतः अन्य दिनों की अपेक्षा काम कुछ अधिक था। किन्तु सास और बहू ने मिलकर शीघ्र ही उसे पूरा कर लिया था और अब उन्हें केवल हृदयनाथ की प्रतीक्षा थी।

मोहन और विजया खिड़की में बैठे आपस में कुछ खुसर-पुसर कर रहे थे। मां उन्हें डांट रही थी कि इतनी सर्दी होने पर भी वे खिड़की क्यों बन्द नहीं करते? लेकिन बच्चे उसकी बात मानें, तब न! वे 'किरनों' के भीतर कांगड़ियां छिपाकर यक्ष की ताक में थे। यक्ष आकर रहेगा, ऐसा उनका विश्वास था। वह जल्दी ही उनके आंगन में घुसकर किसी अंधेरे कोने में छिप जायेगा। फिर जब मां पूजा समाप्त करके आंगन की दीवार में बने ताकचे पर खिचड़ी रखेगी, तो वह झट निकलकर खिचड़ी खाने लगेगा। और यही वह अवसर है जब वे उसकी टोपी चुरा सकते हैं।

बहुत समय पहले की बात है, बच्चों ने अपनी मां से सुना था—किसी परिवार के एक व्यक्ति ने आज की ही रात यक्ष की टोपी चुरा ली और उसे चक्की के भारी पाट के नीचे रख दिया। बस, फिर क्या था, वह यक्ष

उनका हरेक हुक्म बजा लाने लगा। उन्होंने उससे मकान की मरम्मत करने को कहा और उसने दो घंटों के भीतर उस टूटी-फूटी झोंपड़ी को एक भव्य महल में बदल दिया। आसपास फलों और फूलों से भरे बाग लगाए। इतना ही नहीं, उनका सारा काम अब यक्ष ही करने लगा। वही उनके लिए बीज बोता, फसल काटता, धान कूटता और खाना पकाता। अब घर के लोगों के पास करने को कोई काम रहा नहीं और वे सारा समय पूजा-पाठ में बिताने लगे।

···लेकिन एक दिन जब घर के सब लोग कहीं चले गये थे और वहां केवल छोटी बहू थी, यक्ष को अवसर हाथ लगा। वह उसके सामने गिड़गिड़ाकर अपनी टोपी मांगने लगा। बहू उस घर में नयी-नयी आयी थी। उसका दिल पसीज गया और उसने चक्की के पाट के नीचे से टोपी निकालकर यक्ष को दे दी। यक्ष टोपी लेकर भाग गया और पल-भर में उनका भव्य महल पुनः एक टूटी-फूटी झोंपड़ी में तबदील हो गया। फलों और फूलों के बाग गायब हो गये और वे एक बार फिर राजा से भिखारी बन गये।

"उन लोगों ने छोटी बहू को बहुत पीटा होगा?" विजया ने पूछा।

"ज़रूर पीटा होगा। काम भी तो उसने वैसा ही किया था।" मोहन ने उत्तर दिया। वह समझ गया कि विजया का संकेत मां से सुनी कहानी से है।

"मगर बेचारी ने जान-बूझकर थोड़े ही कुछ किया था? उस दिन रूपा भाभी ने भी भाई राज का पुराना कोट एक बूढ़े भिखारी को दे दिया था, लेकिन मां ने उसे बिलकुल नहीं पीटा।"

"वह तो मां की गलती थी। मुझे तो डर है कि यदि हम यक्ष की टोपी चुरा भी लें तो रूपा भाभी उसे लौटा न दें और हमारी सारी मेहनत व्यर्थ जाये।"

"नहीं, रूपा भाभी उतनी बुरी नहीं हैं।" विजया ने प्रतिवाद किया, "जब-जब मैके से आती हैं हमारे लिए बादाम और मूंगफलियां लाती हैं।"

"बुरी तो मैं भी उसे नहीं कहता। लेकिन अच्छा रहेगा यदि हम

टोपी की बात उससे छिपाकर रखें।"

"हां, यह ठीक है।" विजया को भाई की बात पसन्द आयी और वे दोनों सतर्क होकर यक्ष की प्रतीक्षा करने लगे।

रूपा भाभी को बच्चे बुरी नहीं समझते थे। सास भी उसके शांत स्वभाव के कारण उसे प्यार करती थी। किन्तु इस समय उसके माथे पर शिकनें पड़ गई थीं और आंखों से चिनगारियां झर रही थीं। हजरत सुबह दस बजे आफिस गये हैं और अभी तक मटरगश्ती ही कर रहे हैं। यह जानते हुए भी कि मां की तबीयत आजकल कुछ अच्छी नहीं, यार-दोस्तों के बीच बैठे गप्पें लड़ा रहे होंगे। वे आते, पूजा होती और वह अपने बिस्तर में जा घुसती, बिना कुछ खाये-पिये। दिन-भर की थकान से उसका अंग-अंग टूट रहा था—पल-पल गुजरने के साथ-साथ रूपा की खीज भी बढ़ती ही जाती थी।

तभी किसी के पैरों की आहट सुनाई दी और कुछ देर बाद उसने हृदयनाथ को अपना ओवरकोट झाड़ते देखा जिस पर बर्फ की परत-सी जम गई थी। "शुक्र भगवान का!" उसने दबी जबान से कहा और अपनी रिस्टवॉच पर नजर डालकर टाइम देखा।

दिन-भर के थके-मांदे हृदयनाथ को पत्नी की यह अदा बहुत भली लगी। उसे अपने दफ्तर का 'सुपरिंटेण्डेंट' याद आया जो उसके लेट आने पर इसी प्रकार अपनी रिस्टवॉच देखता है। रिस्टवॉच देखने के बाद उसकी आंखें लाल हो जाती हैं और वह उसे सस्पेंड कराने की धमकी देता है। लेकिन रूपा 'टाइम' देखने के बाद मुसकरा रही थी। माथे पर पड़े बल गायब हो गये थे और शोख आंखें हृदयनाथ से पूछ रही थीं, "क्यों जी, सुबह की कान पकड़कर देर से न आने की प्रतिज्ञा का क्या हुआ?"

मां ने हृदयनाथ को देखा और शिकायत-भरे स्वर में बोल उठी, "बर्फबारी में कहां फिर रहे थे, बेटा? यह तुम्हें मालूम था कि आज यक्ष अमावस्या है और···"

"चाचाजी के लिए दवाई लेने गया था।" हृदयनाथ इतना ही कहकर कपड़े बदलने के लिए ऊपर के कमरे में चला गया और मां की

सारी शिकायत न जाने कहां चली गयी। केवल 'ठीक है' कहकर पुनः अपने काम में जुट गई।

रूपा को यह सब अच्छा न लगा। आखिर ये मां-बेटे चाचाजी से इतना क्यों डरते हैं? वह इन्हें जिस समय भी, जैसा भी काम करने को कहें, ये 'चूं-चा' तक नहीं कर सकते। और रूपा को दो दिन पहले की बात याद आयी। हृदयनाथ ने उसे सिनेमा ले जाने का प्रोग्राम बनाया था। मां ने भी खुशी-खुशी अनुमति दी थी। हृदयनाथ तैयार हो चुका था और उसने भी साड़ी बदल ली थी। साड़ी के ऊपर वह शर्ट-कोट पहन ही रही थी कि चाचाजी का बुलावा आ गया। हृदयनाथ को अपनी चचेरी बहन ससुराल से लिवा लानी थी। आज्ञाकारी भतीजा इनकार कर सके, ऐसा भी कहीं हो सकता! जल-भुन गयी थी वह। हृदयनाथ भी थोड़ी देर के लिए असमंजस में पड़ गया था। लेकिन फिर उसने बीच का रास्ता निकालकर रूपा से कहा था—"चलो, अच्छा ही हुआ। इस समय भीड़ बहुत होती है। सेकण्ड शो में चलेंगे।"

वह बच्ची नहीं थी कि उसे इस प्रकार बहलाया जाता और वह तालियां बजाती। उसके मुंह से ये शब्द निकल ही गये, 'जाइये, मैं सिनेमा देखने के बगैर भी जिन्दा रह सकती हूं। पर आपकी चचेरी बहन को कोई नौकर चाहिए ही जो उसका शृंगार बक्स, अटैची केस, कपड़ों की गठरी आदि रास्ते में उठाये।' हृदयनाथ अपनी सफाई में कुछ कहना ही चाहता था कि वह बिजली की-सी तेजी के साथ कपड़े बदलने चली गयी।

उस दिन शाम को सास ने उसे तसल्ली दी थी, "बेटी, तुम्हें ठेस लगी होगी। मगर हृदयनाथ चाचा की आज्ञा कैसे टाल सकता है। उनके स्वर्गवास होने के बाद वही उसके पिता हैं।" लेकिन मां की आवाज उनके शब्दों का समर्थन नहीं कर रही थी, यह बात रूपा से छिपी न रह सकी।

···और चाचाजी को वह कब की परख चुकी थी। परसाल जब हृदयनाथ को टाइफाइड हुआ तो एक बार भी हाल पूछने नहीं आये। हां, सातवें दिन अपनी बेटी को भेजा। वह भी असल में उससे बन-पीस स्वेटर का नमूना सीखने आयी थी। पर यदि चाचाजी के पांव में कांटा भी चुभ

जाये तो दोनों मां-बेटे अपना सिर पीट लेंगे। छाती कूट लेंगे।

कुछ देर के लिए कमरे में निस्तब्धता छायी रही। और फिर मां ने मन में उत्पन्न हुए अज्ञात क्रोध को बच्चों पर उगल डाला, "जब निमोनिया हो जायेगा, तब मेरी बातें समझ में आयेंगी! रात को यदि किसी ने भी सिर-दर्द की शिकायत की तो उसे खिड़की के बाहर फेंक दूंगी।"

बच्चों ने डरते-डरते खिड़की के पट बंद कर दिये। मोहन ने विजया के कान में धीरे से कहा, "चिन्ता न करो। यक्ष को उस समय तक ठहरना ही होगा, जब मां दीवार में बने ताकचे पर खिचड़ी रखेगी।"

हृदयनाथ कुछ देर के बाद कपड़े बदलकर लौटा। रूपा ने उसके आगे गज़-भर जमीन को लीप डाला और वहां कटोरों में किसी फूल की सूखी पत्तियां और अर्घ्य रखा। फिर वह नल से एक पानी भरा लोटा लाने के लिए बाहर निकली। अभी नल पर ही थी कि उसने चाचाजी के छोटे लड़के को मकान में प्रवेश करते देखा। वापस आकर उसने देखा—हृदयनाथ कहीं जाने के लिए तैयार है। कुछ समझ में नहीं आया तो उसने अपनी सास से पूछा कि बात क्या है? उसके तन-बदन में आग लग गई जब उसे यह मालूम हुआ कि हृदयनाथ इस बर्फ के तूफान में चाचा के लिए संतरे खरीदने जा रहा है। यह जानते हुए कि सास के सामने उसका बोलना ठीक नहीं, वह उस लड़के से बोल उठी, "चाचाजी से कह दे यहां पूजा हो रही है। इस समय कोई नहीं जा सकता है।"

"नहीं, बेटी, पूजा तो दो-तीन मिनट बाद भी हो सकती है। आखिर संतरे खरीदने में समय ही कितना लगेगा।" मां डर रही थी कि कहीं हृदयनाथ जाने से इनकार न कर दे। लेकिन मां की यह शंका निराधार थी। हृदयनाथ में चाचा की बात टालने के लिए ज़रा भी साहस नहीं था। उसने जूते पहन लिये और निकल पड़ा।

रूपा मन मसोसकर रह गयी—यह सब देखकर। उसका जी चाहता था कि अपनी सास से पूछे—'मां जी, तुम्हारी ममता कहां चली गयी? दिन-भर थके-मांदे और भूखे-प्यासे बेटे को इस बर्फबारी में बाहर भेजते हुए तुम्हारा दिल नहीं पसीजा? चाचाजी तुम्हारे कौन होते हैं?' लेकिन वह यह सब कुछ कह न सकी और थाली में पूजा के लिए परोसी खिचड़ी को

वापस पतीले में डालकर किसी से कुछ कहे-सुने बिना ऊपर के कमरे में चली गई।

सास जान गयी कि बहू क्रोध में है। उसने एक ठंडी सांस भरी। उसे लगा कि बहू का क्रोध उचित ही है। इस भयानक बर्फबारी में हृदयनाथ को बाहर भेजकर उसने अच्छा नहीं किया है, क्या वह यह नहीं समझती? पर बहू उसकी मजबूरी नहीं जानती। अपनी ही कमजोरी है, नहीं तो हृदयनाथ के चाचाजी को वह खूब पहचानती है।··· मृत्यु से कुछ दिन पहले उनकी हालत ज्यादा बिगड़ गई थी और वह सब कुछ छोड़कर उनकी तीमारदारी और मलमूत्र उठाने में लगी थी। उन दिनों उसे अपनी भूख का क्या खयाल रहता पर हृदयनाथ को खाली पेट दफ्तर जाना पड़ता था। तब उसने देवरानी से विनती की थी कि वह अपनी बेटी शीला को सुबह के समय उनके यहां भेज दिया करे, ताकि पाव-भर चावल तो सुबह बन जाया करें। मां-बेटी दोनों मान गयीं। लेकिन हृदयनाथ के चाचा ने जब सुना तो आग-बबूला हो गये। पत्नी से कहने लगे, "क्या बांदी समझ लिया है उन लोगों ने मेरी बेटी को! शर्म नहीं आयी उन्हें यह कहते हुए! गोबर नहीं ठूंसा तुमने उस बेवकूफ औरत के मुंह में!" और आव देखा न ताव, मृत्यु-शैया पर पड़े अपने भाई से झगड़ने के लिए आये थे। उन्हें ऐसी बातें सुनाई थीं कि उसी रात उनके प्राण-पखेरू उड़ गये।···मां की आंखें भीग गयीं।

मोहन ने मां की आंख बचाकर खिड़की के पट फिर खोल दिये थे और वहां बैठकर यक्ष की प्रतीक्षा कर रहा था। विजया भी उनके पास चली गई थी। मोहन कह रहा था, "टोपी चुराने के बाद मैं यक्ष को हुक्म दूंगा कि वह इसी समय सारी सड़कों और गलियों से बर्फ उठाकर उन्हें साफ कर दे।"

"नहीं, वह भूखा होगा। पहले वह खिचड़ी खायेगा और फिर तुम्हारा काम करेगा।" विजया ने कहा।

"नहीं, उसे हमारी बात माननी ही होगी, चाहे वह दिनभर का भूखा ही क्यों न हो। आखिर उसकी टोपी जो हमारे पास होगी।" इस तर्क ने विजया को लाजवाब कर दिया और वह चुप हो गयी।

लगभग आधा घंटे के बाद हृदयनाथ लौटा। संतरे वह चाचाजी के यहां दे आया था और दोनों हाथ ओवरकोट की जेबों में ढंक रखे थे। आते ही वह मां से बोल उठा, "अब मुझसे और नहीं सहा जाता। जैसे भी हो…"

सहसा वह चुप होकर चारों ओर नजर दौड़ाने लगा। मां भांप गई और आहिस्ता से बोली, "बहू ऊपर के कमरे में चली गई है। इस समय तुम्हारा बाहर जाना उसे अच्छा नहीं लगा।" फिर ठंडी सांस भरकर कहने लगी, "मैं उसे कैसे समझाऊं कि हम चाचाजी की छोटी-सी बात भी नहीं टाल सकते। तुम्हारी शादी के समय जब सुनार ने ऐन मौके पर कंगन और कंठी उधार देने से इनकार कर दिया तो चाचाजी ने ही छह सौ रुपये निकालकर हमारी लाज रखी। अब भी उसके दो सौ रुपये हम पर बकाया हैं। यदि हम उसकी बात मानने से इनकार कर देंगे तो वह तुम्हारे सामने हमारा भंडा फोड़ देंगे। हमारी इज्जत धेले के बराबर भी न रहेगी।"

"इसीलिए तो कहता हूं, मां, जैसे भी हो यह रकम जल्द से जल्द चुकानी पड़ेगी।"

हृदयनाथ का सुझाव ठीक था। किन्तु अभी कुछ समय तक आर्थिक कठिनाइयों के कारण ऐसा होना असंभव है, यह बात वे दोनों भली-भांति जानते थे। इसीलिए थोड़ी देर तक किसी से भी कुछ कहते न बना। तभी रूपा नीचे आयी। पर न जाने क्यों उसे भी यह निस्तब्धता तोड़ने की हिम्मत न हुई। आखिर मोहन ने ही जोर से खिड़की के पट बन्द करके इस खामोशी को तोड़ दिया। यक्ष की प्रतीक्षा करते वह थक गया था, अतः मां के पास आकर कहने लगा, "मां, तुम झूठ कहती हो। पहले तो यक्ष नाम का कोई जीव होता ही न होगा। और यदि होता भी होगा तो मामूली-सी टोपी के लिए किसी की गुलामी क्यों करेगा!"

मां ने कोई उत्तर न दिया तो वह रूपा से पूछ बैठा, "क्यों भाभी, तुम्हारा क्या विचार है?"

रूपा ने धीमे से, ताकि सास न सुन सके, कहा, "यक्ष की बात तो मैं नहीं जानती पर कई आदमी दूसरे की गुलामी किए बिना जिन्दा नहीं

रह सकते। एक पल भी गुजार नहीं सकते।"

रूपा की बात शायद हृदयनाथ ने सुनी और वह मोहन से बोल उठा, 'टोपी कोई मामूली चीज नहीं, इज्जत की निशानी होती है। और अपनी इज्जत बचाने के लिए प्राणी क्या नहीं करता है?"

बात रूपा ने सुनी और उसे दिखाई दिया कि इन सब बातों में जरूर कोई रहस्य है। उसने हृदयनाथ की ओर देखा, पर वह कहीं और देख रहा था।

वह दिन

वह दिन भी बाकी दिनों की तरह ही शुरू हुआ था। हां, इंटर-कॉलेज डिबेट में कॉलेज के एक लड़के ने तीसरी पोजीशन प्राप्त की थी और इस खुशी में लड़कों को छुट्टी दी गई थी। मगर यह भी कोई खास बात नहीं थी। जब-तब किसी मैच, किसी त्योहार की खुशी में या किसी की मृत्यु के शोक में लड़कों की छुट्टी कर दी जाती थी और कॉलेज 'खुला' रहता था। कॉलेज खुला रहे मगर लड़के न रहें तो अध्यापक और अधिकारी अपने को सचमुच निश्चिन्त और बहुत हलका अनुभव करते हैं। लड़कों का क्या भरोसा? दो सहपाठियों का मामूली-सा झगड़ा किसी भी समय बहुत बड़े और व्यापक साम्प्रदायिक दंगे में बदल सकता है।

बाकी दिनों की तरह उस दिन भी इकबाल नौ बजकर पचपन मिनट पर कॉलेज पहुंचा और सीधे स्टाफ-रूम के लॉकर से रजिस्टर और किताबें निकालने चला गया। जब उसे मालूम हुआ कि आज क्लासें नहीं होंगी, तो वह लाइब्रेरी की ओर चला गया।

रोज की तरह आज भी इकबाल के सहयोगी कॉलेज आने पर सबसे पहले प्रिंसिपल साहब के कमरे में हाजिरी देने पहुंचे। साहब ने बारी-बारी सबसे उनके बाल-बच्चों का हाल पूछा। फिर रोज की तरह ही अपने पोते टिंकू की शरारतों के किस्से सुनाये। बातचीत बहुत ही आत्मीयता और खुलेपन के वातावरण में चलने लगी। तभी साहब के मन में विचार

आया कि अन्दर कमरे में कुछ ठंड-सी अनुभव हो रही है। क्यों न बाहर धूप में बैठा जाय? वहां बैठे लोगों को लगा जैसे प्रिंसिपल साहब ने उनके मुखकी बात छीन ली हो। प्रोफेसर रैना ने कहा कि अप्रैल का महीना चल रहा है, फिर भी मौसम में कोई खास तबदीली नहीं आयी है। आज सुबह जब वह ठंडे पानी से नहाया तो फिर पूरे एक घंटे तक कांगड़ी तापे बैठा रहा। मुश्ताक साहब ने प्रोफेसर रैना की बात सुनकर जोर से ठहाका लगाया। जाने रैना साहब को ठंडे पानी से नहाने की हिम्मत कैसे हुई? वह खुद अप्रैल के अंत तक गर्म पानी से ही नहाता है। प्रोफेसर रैना ने प्रत्युत्तर में कहा कि मुश्ताक साहब का क्या? वह जुम्मे-जुम्मे नहाता है, रोज-रोज नहीं। जिसे रोज-रोज नहाने की बुरी आदत हो, वह इस ईंधन की किल्लत में रोज-रोज गर्म पानी कहां से ला सकता है? इसपर मुश्ताक साहब ने रिमार्क पास किया कि रैना साहब पुराने आदमी ठहरे। अपनी जवानी के दिनों में शुद्ध दूध और घी का सेवन कर चुके हैं, जिसकी ताकत उनमें आज तक बाकी है और इस उम्र में भी वह रोज 'नहाने' का साहस कर सकते हैं। हमारी तरह आज के 'अडल्टरेशन' और 'टेंशन' के शिकार नहीं, जो हफ्ते में एक दिन 'नहाना' भी मुश्किल हो जाता। लेकिन फिर अपनी बात को मोड़ देकर इतना और जोड़ा कि रैना साहब और दूसरे पंडित लोगों पर वैसे ऐसी कोई पाबन्दी भी नहीं है। यह मुसीबत भी हम मुसलमानों पर ही डाली गयी है। बर्क गिरती है तो बेचारे मुसलमानों पर ही गिरती है। प्रिंसिपल भी इस हंसी-मजाक से खुश हो रहा था। वह मुसकराया और चैम्बर से बाहर चला गया। उसके पीछे-पीछे प्रोफेसर रैना, मुश्ताक साहब और दूसरे छोटे-बड़े साहब भी कमरे से निकलकर लॉन में आ गये।

लॉन में पहले ही चपरासी ने रोज की तरह कुर्सियां सजा रखी थीं। सभी एक-एक कुर्सी के साथ खड़े हो गये और जब प्रिंसिपल अपनी कुर्सी पर विराजमान हो गया तो ये लोग भी बैठ गये। प्रोफेसर रैना ने ग्ले-ग्राउंड की छोर पर खड़ी 'पॉपलर' की पंक्ति पर नज़र डाली। फिर उनके पीछे, दूर धूप में धुली, पिघलती बर्फ़ की उजली-उजली थिगली लगी, पहाड़ों की सुरमई चोटियों को देखा। फिर गहरे नीले आकाश को

आंखों में समेटने की कोशिश में पलकें मूंद लीं। क्षण-भर बाद आंखें खोलते उसने कहा कि धूप सचमुच बहुत सुखद है। मुश्ताक साहब ने कहा कि अप्रैल में सुबह-सवेरे गर्म गुनगुने पानी से नहाना भी इसी तरह सुखद होता है। रैना साहब आज़मा कर देख लें। इस पर प्रिंसिपल को टिंकू की एक और शरारत याद आ गयी। कल पुष्पा यानी टिंकू की मां बाथरूम में नहा रही थी कि टिंकू ने अचानक दरवाज़ा खोला और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगा···

इकबाल लाइब्रेरी में बैठा एक अमरीकी पत्रिका के पन्ने पलट रहा था। पत्रिका का तीन-चौथाई से भी अधिक भाग विज्ञापनों से भरा था। और सच तो यह है कि उसे कोई लेख या राइटअप पढ़ने की अपेक्षा विज्ञापनों के साथ छपी खूबसूरत कारों, टी० वी० और वीडियो-रिकार्डरों, घड़ियों और कैमरों, उम्दा शराब और बढ़िया सिगरेटों, सुन्दर फर्नीचर और खूबसूरत औरतों की तसवीरें देखने में ज़्यादा मज़ा आया। वह खूबसूरत प्लेटों में सजे फिश-चाप्स और सासेजिस देख रहा था कि असिस्टेंट लायब्रेरियन ने उसे सूचना दी कि कॉलेज ऑफिस में उसके नाम आया कोई पत्र पड़ा है। किसका पत्र हो सकता है ? इकबाल ने सोचा। सहसा उसके चेहरे पर चमक आ गयी। कोई एक महीना पहले उसने पोस्ट-ग्रेजुएट डिपार्टमेंट में लेक्चररशिप के लिए इंटरव्यू दिया था। हो सकता है उसे इस पद के लिए चुन लिया गया हो। वह तेज़ कदमों से सीढ़ियां उतरने लगा। लेकिन सीढ़ियां उतरते ही अचानक उसका सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। दो दिन पहले ही उसकी भेंट रजिस्ट्रार और डिपार्टमेंट के चेयरमैन से हुई थी। यदि ऐसी कोई बात होती तो उन्होंने उसे नहीं बताया होता ? ऐसी बातें थोड़े ही छिपी रह सकती हैं। खासकर श्रीनगर जैसे शहर में। तो फिर किसका खत होगा ? मित्र और रिश्तेदार उसे घर के पते पर ही चिट्ठी-पत्री लिखते हैं। तब इस पत्र का लिखने वाला कौन होगा ? और उसकी यह जिज्ञासा धीरे-धीरे आशंका में बदल गयी। साल-भर पहले वह जम्मू से तबदील होकर यहां आया था। वहां के बनिये का उस पर कोई सौ-सवा सौ रुपये बकाया था। वह बिना यह पैसा चुकाये और बिना बनिये को सूचित किए यहां चला आया था। लगता है बनिये ने अब किसी से उसका नया पता मालूम किया होगा और उसे एक ज़बरदस्त खत लिखा होगा। क्या करे वह ? यदि उसकी रुकी 'इंक्रीमेंट' सैंक्शन हो जाती तो वह तुरन्त बनिये को रुपये मनीआर्डर कर देता और उसके तगादों से बचता। वह कुछ शिथिल कदमों से आफिस की ओर जाने लगा। प्रिंसिपल और उसे घेरकर बैठे अपने सहयोगियों के पास से गुज़रते उसके मन में विचार आया कि क्यों न वह भी वहां जाकर साहब को 'विश' करे, अपने सहयोगियों से हाथ मिलाए। मगर ज्यों ही प्रिंसिपल से उसकी नज़रें चार हुईं, प्रिंसिपल ने मुख दूसरी ओर फेर लिया। उसके सहयोगी मंद-मंद मुसकराने लगे। तब उसने अपना विचार बदला और सीधा ऑफिस की ओर बढ़ा।

वह ऑफिस से पत्र लेकर बाहर ही निकला था कि प्रोफेसर पंडिता ने आकर उससे सिगरेट मांगी। सिगरेट सुलगाकर पंडिता ने उसे नसीहत की, अपना लड़का समझकर मशविरा दिया कि उसे हठ छोड़ देना चाहिए। यदि वह एक बार साहब से माफी मांग भी ले तो क्या फर्क पड़ सकता है ? छह महीने से साहब की मेज़ पर उसका कागज़ रुका पड़ा है जिस कारण छह महीने से उसकी इंक्रीमेंट बन्द है। रोज़ की तरह उसने आज भी जवाब दिया कि उसने कोई गलती ही नहीं की है तो वह माफी किसलिए मांगेगा ? पंडिता ने उसे समझाया कि माफी मांगने से उसकी इज्ज़त कम नहीं हो जायेगी पर साहब का 'ईगो' ज़रूर संतुष्ट हो जायेगा। इकबाल मुसकराया। उसकी मुसकराहट देखकर पंडिता तनिक चिढ़ गया और जाकर लॉन में प्रिंसिपल के सामने बिछी कुर्सियों में से एक खाली कुर्सी पर बैठ गया।

रोज़ की तरह उस दिन भी घंटा-भर धूप में बैठने के बाद प्रिंसिपल साहब को अचानक ज्ञात हुआ कि धूप काफी गर्म है। बेहतर रहेगा कि भीतर कमरे में ही बैठा जाय। इस पर रैना साहब ने टिप्पणी की कि आखिर अप्रैल का महीना भी खत्म होने वाला है, कोई मज़ाक नहीं है। धूप में गर्मी नहीं होगी तो क्या चांदनी की ठंडक होगी ? मुश्ताक साहब ने चपरासी को डांटा कि उसे कुर्सियां चिनार की छाया में लगानी चाहिए थीं। फिर उसने कोट उतारकर अपनी गोद में रखा और कमीज़ के

बटन खोले। यह देखकर साहब को टिंकू की एक और शरारत याद आ गयी। एक दिन टिंकू को अपनी मां स्कूल के लिए तैयार कर रही थी। इधर वह उसकी कमीज़ के बटन बंद करने लगी और इधर वह उसके ब्लाउज के बटन खोलने लगा। फिर एक ज़ोर का ठहाका लगा और सब उठकर भीतर चैम्बर में चले गये।

रोज़ की तरह उस दिन भी हेड-क्लर्क ने भीतर चैम्बर में प्रिंसिपल के सामने कागज़ात और फाइलें पुट-अप कीं। फिर एकाउंटेंट ने आकर बिलों और चेकों पर रोज़ की तरह उसके दस्तखत लिये। रोज़ की तरह आज प्रिंसिपल ने हेड-क्लर्क और एकाउंटेंट को रिटायरिंग रूम में अलग ले जाकर उनसे 'कॉन्फिडेंशल' बातें कीं। दो बजे तक सब कुछ रोज़ की तरह ही होता रहा। लेकिन दो बजते ही एक कार कॉलेज के बंद फाटक के आगे आकर खड़ी हो गयी और ज़ोर-ज़ोर से हॉर्न बजाने लगी। चौकीदार ने हड़बड़ाकर फाटक खोला और कॉलेज के शांत और खुले वातावरण का गला घोंटती हुई एक फुसफुसाहट चारों ओर फैली गयी—डी० ई०—डी० ई०--डी ई ई—ई ई ई। शेड में हुक्का पीते चपरासियों और मालियों को, दफ्तर में चाय पीते क्लर्कों और कैशरों को, स्टाफ-रूम में कैरम खेलते अध्यापकों-प्राध्यापकों को जैसे लकवा मार गया। डी० ई०—डायरेक्टर एजुकेशन —अचानक सरप्राइज़ विज़िट पर आ गया। जाने क्या बात है?

ऑफिस से उठाकर लाये लिफाफे को इकबाल ने लाइब्रेरी में आकर धड़कते दिल और कांपते हाथों से खोला। भीतर एक कागज़ था जिस पर अंग्रेज़ी में सात बार 'जय माता की' टाइप किया गया था। नीचे लिखा था कि यह शुभ संदेश प्राप्त होते ही उसके सौभाग्य का उदय होगा और उसके सभी रुके कार्य सफलता की ओर अग्रसर होंगे। साथ ही ताकीद की गयी थी कि वह इस पत्र की सात प्रतियां बनाकर अपने किन्हीं सात परिचितों तक देवी मां का यह संदेश पहुंचाए। यह भी लिखा था कि जिस-जिसने इस शुभ संदेश के प्रसार में योगदान दिया, उसकी सारी मनोकामनाएं पूरी हो गईं। लेकिन जिसने ऐसा नहीं किया, उसका सर्वनाश हो गया। किसी की नौकरी चली गयी, किसी का कोई प्रियजन मर गया। इकबाल

ने क्रोध और चिड़चिड़ाहट में लिफाफे समेत पत्र के टुकड़े-टुकड़े करके रद्दी की टोकरी में डाल दिए और कुछ समय पहले रखी पत्रिका को फिर उठाकर देखने लगा। वह कब तक पत्रिका देखता रहा, उसे कुछ याद नहीं रहा। उसका ध्यान तब टूटा जब असिस्टेंट लायब्रेरियन आकर उसके कान के पास फुसफुसाया कि डी० ई० अचानक सरप्राइज़ विज़िट पर आ गया और इस समय प्रिंसिपल के चैम्बर में कॉलेज के स्टाफ के साथ उसकी मीटिंग चल रही है। वह पत्रिका रखकर खड़ा हो गया और बन्द खिड़की के शीशों से प्रिंसिपल के चैम्बर की ओर देखने लगा। उसने देखा कि कॉलेज कैम्पस के भिन्न-भिन्न कोनों, कमरों और ब्लाकों से निकलकर भिन्न-भिन्न विषयों के अध्यापक एक-एक, दो-दो करके प्रिंसिपल के चैम्बर में घुस रहे हैं। उसने सोचा कि उसे भी वहां जाना चाहिए। मगर वह कैसे वहां जा सकता है? प्रिंसिपल उसके साथ, बात करने की बात दूर, नज़रें तक नहीं मिलाता है। नहीं, वह वहां जाकर अपनी बेइज्ज़ती नहीं करायेगा। तभी उसने देखा कि उसके तीन साथी, जो शायद फिज़िकल डायरेक्टर के कमरे में ताश खेल रहे थे, दौड़ते-हांफते प्रिंसिपल के चैम्बर के भीतर चले गये। वहां न जाने का उसका संकल्प अब कुछ डगमगाने लगा। इन सारे अध्यापकों, स्टाफ के मेम्बरों में सिर्फ उसी का अलग रहना, बाहर रहना, क्या उसके अपने हित में रहेगा? और फिर कमरा कॉलेज का है, प्रिंसिपल के घर का नहीं। और उसे प्रिंसिपल के सामने नहीं, डी० ई० के सामने जाना है।

चैम्बर में घुसते ही उसने पहले डी० ई० और फिर प्रिंसिपल का अभिवादन किया। डी० ई० ने शायद उसे नहीं देखा। प्रिंसिपल ने अपने सिर को थोड़ा-सा हिलाकर उसके अभिवादन को स्वीकार किया। उसके प्रविष्ट होते ही चैम्बर में अव्यक्त सनसनी की एक खामोश लहर-सी दौड़ गई थी। कुछ लोगों के चेहरों पर दुष्ट मुसकराहट उभर आयी थी। कुछ लोगों ने उसे देखकर प्रिंसिपल की ओर देखा, पर प्रिंसिपल के मुख पर कोई प्रतिक्रिया न देखकर उन्हें थोड़ी-सी निराशा हुई। कहीं कोई कुर्सी या सोफा खाली नहीं था। वह कुछ क्षण किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रहा। तब दरवाज़े के पास लग सोफे पर बैठे उसके एक सहयोगी ने थोड़ा-सा सरककर

उसके लिए जगह बना दी और आंख टीपकर प्रिंसिपल की बगल में बैठे एक अन्य अध्यापक को कोई इशारा किया। डी० ई० चश्मा लगाकर कोई कागज़ देख रहा था। थोड़ी देर बाद उसने कागज़ से नज़रें हटाकर चश्मा नीचे रखा और अपने सामने बैठे लोगों की ओर देखा। तब उसकी नज़र इकबाल पर भी पड़ी और वह जैसे उछल पड़ा, "अरे! आप भी इसी कॉलेज में हैं!"

"येस, सर!" इकबाल ने पूरे अदब के साथ हामी भरी।

"हाउ इज़ योर फादर? हाउ इज़ योर मामाजी?" डी० ई० ने उसे पूछा।

"जी, सब खैरियत से हैं।" कहने को तो इकबाल ने कह दिया पर भीतर ही भीतर वह बहुत परेशान हो गया कि डी० ई० की इस आत्मीयता का कारण क्या हो सकता है, मतलब क्या हो सकता है?

"प्रिंसिपल साहब, आप शायद नहीं जानते हैं, यह हमारा अपना लड़का है।"

डी० ई० की बात के उत्तर में प्रिंसिपल ने कहा, "सो तो हम नहीं जानते हैं, सर। पर इतना जरूर जानते हैं कि मिस्टर इकबाल एक ब्रिलियंट और टेलेंटेड यंगमैन हैं।"

वह और भी चकरा गया। आखिर माजरा क्या है? आज यह सब क्या घट रहा है? प्रिंसिपल की बात सुनकर उसके अनेक सहयोगियों के होंठों पर उभर आयी मुसकराहट फिर लुप्त हो गई। लेकिन चन्द एक, जो अधिक चतुर और बुद्धिमान थे, जो उससे, प्रिंसिपल से और उन दोनों के परस्पर रिश्ते से अच्छी तरह परिचित थे, अधिक उत्सुक होकर शांति का आवरण फाड़कर किसी क्षण तूफान के प्रकट होने की प्रतीक्षा करने लगे।

प्रिंसिपल के मुख से उसके लिए सराहना के शब्द सुनकर डी० ई० इकबाल की ओर मुसकराकर देखने लगा, वैसे ही जैसे कोई आदमी नये खरीदे टी० वी०, फ्रिज या फर्नीचर की दूसरों से प्रशंसा सुनकर खुश होता है। मगर अचानक उसकी मुसकराहट की चमक कुछ मंद पड़ गयी। उसने चश्मा लगाकर, और फिर चश्मा हटाकर इकबाल को गौर से देखा। मन के

किसी कोने में एक हल्की-सी शंका ने सिर उठाया जिसने धीरे-धीरे गलती के एक तीव्र एहसास का रूप ले लिया। ठीक है, इस नौजवान की सूरत हाउसिंग मिनिस्टर के भानजे से हू-ब-हू मिलती है। पर वह तो बॉटनी का लेक्चरर है और यहां इस कॉलेज में मेडिकल सब्जेक्ट्स बिलकुल ही नहीं पढ़ाये जाते हैं। डायरेक्टर ऑफ एजुकेशन होते हुए भी उससे ऐसी गलती कैसे हुई? एक मिथ्याभास के आगे उसने 'एस्टैब्लिश्ड' और निश्चित तथ्यों की अवहेलना क्यों की? पर अब बिगड़ी बात को संभालने, भ्रम को कायम रखने के अतिरिक्त और कोई चारा भी नहीं था। उसने चश्मा नीचे रखा और अपनी मुसकराहट में फिर चमक लाते हुए प्रिंसिपल से कहा, "प्रिंसिपल साहब, इसका खयाल रखिएगा।"

"आप भी क्या बात करते हैं, सर। इस कॉलेज के स्टॉफ में 'यंग ब्लड' की ही 'मेजॉरिटी' है और इस बात को मैं अपने लिए और इस कॉलेज के लिए गर्व की ही बात मानता हूं।" प्रिंसिपल ने दांत निपोरते हुए कहा और फिर इस बात की कि आने वाला युग ही नहीं, आज का ज़माना भी नयी पीढ़ी का है, उसने विस्तृत सैद्धान्तिक चर्चा की, जम्हाइयां लेने के बावजूद डी० ई० और अन्य उपस्थित लोगों ने सिर हिला-हिलाकर जिसका अनुमोदन किया। फिर डी० ई० ने प्रिंसिपल की बात को आगे बढ़ाते हुए, या आगे बढ़ाकर उलटी दिशा में मोड़ते हुए नौजवान अध्यापकों को उनकी जिम्मेदारी का एहसास दिलाया। उनमें फैली उत्तरदायित्व-हीनता की प्रवृत्ति की भर्त्सना की जिससे शिक्षण संस्थाओं में अनुशासनहीनता और शिक्षा के स्तर में गिरावट आ रही है। सभी ने ध्यान से डी० ई० की बातें सुनीं और अनुमोदन में बार-बार सिर हिलाया। कोई एक घंटे के बाद मीटिंग विसर्जित हुई और चैम्बर में केवल प्रिंसिपल, डी० ई०, स्टाफ सेक्रेटरी, प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब रह गये।

चाय और नाश्ता आ गया और कॉलेज प्रशासन से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण और ज्वलंत समस्याओं पर विचार-विनिमय होता रहा। चाय पीने के बाद प्रिंसिपल और डी० ई० उठकर साथ वाले रिटायरिंग रूम में चले गये और लगभग आधा घंटे के बाद बाहर आये। कुछ देर चैम्बर

में बैठने के बाद डी० ई० ने प्रिंसिपल, स्टाफ सेक्रेटरी, प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब से विदा ली और वे चारों उन्हें उनकी कार तक छोड़ आये। कार के कॉलेज गेट से बाहर जाने पर प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब प्रिंसिपल के साथ वापस उसके चैम्बर में आ गये। स्टाफ सेक्रेटरी स्टाफ मेम्बरों को डी० ई० के साथ हुई गुप्त बातचीत का ब्योरा देने के लिए स्टाफ रूम की ओर चला गया।

इकबाल भी स्टाफ-रूम में बैठा डी० ई० के साथ स्टाफ सेक्रेटरी की कॉलेज टीचरों की कठिनाइयों के विषय में हुई बातचीत का ब्योरा सुन रहा था कि उसे प्रिंसिपल का बुलावा आया। वह शंकित कदमों से स्टाफ-रूम से निकलकर प्रिंसिपल के कमरे में दाखिल हुआ।

"आपने मुझे बुलाया है ?" इकबाल ने कुछ देर तक प्रिंसिपल की मेज के सामने चुपचाप खड़े रहने के बाद पूछा।

"येस।" प्रिंसिपल ने बिना उसकी ओर देखे कहा।

वह सामने की कुर्सी पर बैठ गया और प्रिंसिपल की ओर एकटक देखते हुए उसके आदेश की प्रतीक्षा करता रहा। प्रिंसिपल भी बिना कुछ बोले उसे घूरने लगा। दोनों ने मानो एक-दूसरे के आगे चैलेंज रखा हो कि देखें पहले किसका धैर्य छूटता है? कौन पहले बोलता है? स्थिति काफी गम्भीर थी और इसका अंदाजा उन दो की मुखमुद्रा से अधिक प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब के कसे चेहरों और भिंचे होंठों से लगाया जा सकता था। पल-पल बीतने के साथ-साथ चैम्बर में छायी खामोशी घनी और चारों के लिए असह्य होती गयी। चारों छाती पर इस बोझ को सम्हाले हुए भीतर-ही-भीतर छटपटा रहे थे। लेकिन बोलने की पहल प्रिंसिपल ने ही की। कठोर मुखमुद्रा धारण करके उसने कड़कती आवाज में इकबाल से कहा, "आई डोंट लाइक योर वेज। मुझे तुम्हारा तौर-तरीका बिलकुल पसंद नहीं है।"

इकबाल ने कुछ नहीं कहा। कुछ क्षण वैसे ही प्रिंसिपल की ओर एकटक देखता रहा और फिर शांत भाव से उठकर धीरे-धीरे कमरे से बाहर जाने लगा। यह देखकर प्रोफेसर रैना का संयम छूट गया। वह झटके से उठा और इकबाल की ओर उंगली से इशारा करके चीखने

लगा, "यही, बस यही है वह तरीका। डी० ई० साहब बक नहीं रहे थे। सच कह रहे थे कि नये लौंडे सारे अकैडेमिक फील्ड को खराब कर रहे हैं।"

इकबाल रुक गया। उसने आंखें तरेरकर रैना की ओर देखा। उसके तेवर देखकर रैना ने और ज्यादा चीखना मुनासिब नहीं समझा, पर मुश्ताक ने टूटे सूत्र को थामकर बात आगे बढ़ाई, "देखो, मेरे दोस्त!" उसने कड़े पर संयत स्वर में कहा, "प्रिंसिपल हमारा ऑफिसर है। वह अगर हमारी गलती की तरफ इशारा करे तो हमें अपनी गलती मान लेनी चाहिए। या फिर अपनी सफाई पेश करनी चाहिए। यह कोई तरीका नहीं कि ऑफिसर ने कुछ कहा और आपने नाराज होकर वाक-आउट किया। यह सरासर बदतमीजी है।"

"अगर मैं प्रिंसिपल होता तो इसे इसी बात पर सस्पेंड करता।" प्रोफेसर रैना ने बिना इकबाल की ओर देखे कहा।

"मैं सस्पेंड या डिसमिस करना नहीं जानता। मैं खाल खींचना जानता हूं।" प्रिंसिपल ने लहजे के कड़ेपन को कायम रखते हुए कहा— "मैं अपना जूता निकालकर इसे सीधा कर सकता हूं। मेरा इसके ऊपर पूरा-पूरा अधिकार है।"

आखिरी वाक्य सुनकर इकबाल भौंचक रह गया। उसने वह प्रतिक्रिया नहीं दिखायी जिसके लिए उसने अपने आपको तैयार किया था।

"तुम छह महीने तक मुझसे रूठे रहे। क्यों? क्या तुम अपने पिताजी या मामाजी से भी इसी तरह रूठे रहते? इन छह महीनों में तुमने एक बार भी नहीं पूछा कि मैं तुम्हारे कागजों पर दस्तखत क्यों नहीं करता हूं? मैं भी इन्सान हूं। मेरे भी सेंटिमेंट्स हैं। अफसोस है तुमने इनकी कद्र नहीं की।"

प्रिंसिपल के लहजे की आर्द्रता में, गले के कंपन में, होंठों की थरथराहट में, आंखों की तरल चमक में क्रोध और करुणा के भाव प्रकट और विलीन हो रहे थे। वह कह रहा था, "और नुकसान किसका हुआ? तुम्हारा अपना, मेरा नहीं। मगर मेरे बच्चे का नुकसान भी मेरा ही नुकसान है। छह महीने तक तुम्हारी इंक्रीमेंट बन्द रही और तुम चुप

रहे। हैरानी है। और तुम अपने को अक्लमंद कहते हो। तुमसे ज्यादा अक्ल टिंकू के पास है।"

प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब की ओर मुसकराकर देखते हुए प्रिंसिपल ने अपनी बात जारी रखी, "मैं आपसे कहना भूल गया। कल टिंकू की मां ने केक बनाया। बन जाने पर जब उसने एक पीस प्लेट में टिंकू के आगे रखा तो साहबजादे रूठ गये। कहने लगे—'हम पीस नहीं, पूरा केक लेंगे।' पर हम भी डटे रहे। हमने कहा—'रूठा है तो रूठने दो।' साहबजादे ने जब देखा कि कोई उनकी जिद के आगे झुकता नहीं है तो चुपके से उठे और प्लेट में पड़ा केक-पीस चुपचाप खाने लगे।"

प्रिंसिपल, प्रोफेसर रैना और मुश्ताक साहब जोर-जोर से हंसने लगे। प्रिंसिपल ने हंसते-हंसते इकबाल की ओर इशारा किया और कहा, "उसकी जगह अगर यह साहब होते तो बस रूठे ही रहते। न पूरा केक खाते, न प्लेट में पड़ा टुकड़ा खाते, सिर्फ मां से मार खाते।"

मुश्ताक साहब ने अपनी हंसी रोककर प्रोफेसर रैना से कहा—"प्रिंसिपल साहब ने बिलकुल सही फरमाया। इकबाल साहब अगर बुरा न मानें तो मैं भी साफ-साफ कहूंगा कि इनके पास इल्म है, अक्ल नहीं।"

"इल्म को लेकर कौन चाटना है?" प्रोफेसर रैना ने अजीब-सा मुंह बनाकर कहा, "आदमी के पास अक्ल होनी चाहिए। यदि वह जरा भी होती तो अपने सब्जेक्ट में इतना ब्रिलियंट आदमी पोस्ट-ग्रेजुएट डिपार्टमेंट में रीडर होता, इस अंडर ग्रेजुएट कॉलेज में मामूली लेक्चरर नहीं।"

इकबाल सचमुच बे-अक्ल, बेवकूफ और बुद्धू-सा बना बारी-बारी तीनों की ओर देख रहा था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे? क्या करे? उसकी खुशकिस्मती से प्रिंसिपल ने खुद ही उसकी मुश्किल आसान करते हुए कहा, "तुम जा सकते हो। मैंने सुपरिंटेंडेंट से कहा है कि वह आज दिन में ही तुम्हारा इंक्रीमेंट का केस 'कम्प्लीट' करके सेंक्शन के लिए भिजवाए।"

चैम्बर से बाहर आकर इकबाल आज की, या यों कहें पिछले कुछ घंटों की घटनाओं पर विचार करने लगा। यह सब क्या हुआ और कैसे

हुआ? डी० ई० की आत्मीयता और प्रिंसिपल की कृपा के पीछे क्या रहस्य है? दोनों को जोर देकर उसके पिता और मामा का जिक्र करने की क्या जरूरत पड़ी? उसके पिता ने उसे कभी नहीं बताया कि उसकी प्रिंसिपल या डी० ई० के साथ कोई जान-पहचान है। होती तो बताता। और मामा? उसका तो कोई मामा है ही नहीं। उसके नाना की सिर्फ दो लड़कियां थीं। इकबाल इस पहेली को सुलझाने की जितनी कोशिश करता, उतनी उसकी उलझन बढ़ने लगी। और तभी ऑफिस में मिला पत्र और उस पर लिखी इबारत उसके दिमाग में सहसा कौंध गयी। 'जय माता की'—ये अक्षर रद्दी की टोकरी में पड़े बिखरे कागज के तिनकों से, कयामत के रोज कब्रों से उठ खड़े होने वाले मुर्दों की तरह अचानक उभरकर उसके आगे नाचने लगे—'पत्र प्राप्त होते ही तुम्हारे भाग्य का उदय होगा और रुके हुए कार्य सफलता की ओर अग्रसर होंगे।' पर यह बात, या यों कहें इस बात से जुड़ी दूसरी याद आते ही उसका दिल बैठ गया। एक ठिठुरते भय से उसका रक्त जम गया और हड्डियां अकड़ गयीं। उसे ताकीद की गयी थी कि वह इस पत्र की सात प्रतियां बनाकर अपने सात मित्रों तक माता का संदेश पहुंचाए। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उसका सर्वनाश हो जायेगा। पर उसने पत्र की सात प्रतियां नहीं, सात टुकड़े किये थे। भय शनैः-शनैः घना होता गया। तब उसके मस्तिष्क से और सब कुछ—कॉलेज, प्रिंसिपल, डी० ई०, इंक्रीमेंट, पिता, मामा उतर गया। वहां केवल यह चेतावनी कि यदि उसने आदेश का पालन नहीं किया तो उसका सर्वनाश हो जायेगा—पल-पल बीतने के साथ और भारी होकर हथौड़े की चोट करने लगी।

गर्दिश के दिन

अपने अतीत का जब जायजा लेने लगता हूं तो किसी महत्त्वपूर्ण घटना पर नजर नहीं टिकती है। अपने वर्तमान में भी कोई खास बात नहीं पाता हूं। बचपन में बहुत गरीबी देखी है। मगर इतनी नहीं कि कभी फाकों की नौबत आयी हो। आज गरीबी नहीं है पर आर्थिक निश्चितता आज भी नसीब नहीं हुई है। बचपन में घर से पढ़ने के लिए स्कूल जाया करता था और पढ़कर सीधा घर लौटा करता था। आज घर से पढ़ाने के लिए कॉलेज जाता हूं और पढ़ाकर वापस घर लौटता हूं। वही शहर, वही घर और जिस स्कूल में बचपन में पढ़ता था, उसी के पास ही वह कॉलेज भी है जहां आजकल पढ़ाता हूं।

पुराने मुहल्ले में बसे घर और सिविल लाइन्स में स्थित स्कूल-कॉलेज के बीच जो दूरी है, उसी को गज बनाकर मैं समय के थान को धीरे-धीरे खोलकर जिंदगी का कपड़ा माप रहा हूं। मालूम नहीं अभी थान में कितना कपड़ा और है ?

श्रीनगर के एक पुराने-गंदे मुहल्ले में सात ताक और तीन मंजिलों वाला बड़ा-सा बोसीदा मकान जिसका अधिकांश भाग मिट्टी के हंडों, टूटे-फूटे बर्तन-भांडों और परदादा के समय के फटे-गंदे चीथड़ों से भरा पड़ा था। इस घर में हम केवल दो कमरे इस्तेमाल में लाते थे। एक में मां खाना पकाती थी और पास ही हम लोग चटाई बिछाकर खाना खाते और चाय पीते थे। दूसरे कमरे में हम लोग सोते थे—मैं, मेरी बड़ी बहन,

मेरा छोटा भाई और मेरे मां-बाप। मकान में और कमरे भी थे, मगर नीचे बिछाने के लिए चटाइयां नहीं थीं। इसलिए जब पिताजी ने एक हजार रुपये में मकान का आधा भाग 'रेहन' रखा तो हमें कोई दिक्कत नहीं हुई। नौकरी-पेशा कश्मीरी पंडितों में उस समय शायद मेरे पिताजी ही एकमात्र व्यक्ति थे जो न कोई नौकरी करते थे और न कोई बाकायदा व्यापार। घर में कोई बंधी आमदनी नहीं आती थी और इन हालात में मां घर कैसे चलाती थी, आज भी यह सोचकर मैं हैरान हो जाता हूं।

स्कूल में मैं शायद सबसे कमजोर और दब्बू लड़का था। प्राइमरी स्कूल में मेरा एक सहपाठी मखना मुझे बिना वजह पीटा करता था। उसका बाप नानवाई था जिसकी दूकान हमारे घर के निकट ही सड़क पर थी। घर से बाहर जाते या घर लौटते मेरे दिल में हमेशा खटका रहता था कि कहीं बाप की दूकान पर बैठा मखना अकारण ही मुझ पर हमला न कर दे। अतः मैं सीधी सड़क छोड़कर गली-कूचों के लंबे चक्कर लगाकर घर से बाहर आता-जाता था। खेल-कूद में मैं बहुत कम भाग लेता था। कभी-कभी जब फुटबाल या हॉकी खेलता, बाल को अपने अधिकार में लाना मेरे लिए नामुमकिन होता। संयोग से यदि बाल स्वयं मेरे पास आ भी जाती तो मेरे साथी तुरंत धक्का देकर मुझसे बाल छीन लेते। परिणाम यह हुआ कि खेलने से मुझे नफरत-सी हो गयी। मैं अपना अधिकतर समय तरह-तरह की छोटी-बड़ी किताबें पढ़ने में व्यतीत करने लगा। पुराने घर की टेढ़ी-मेढ़ी दीवारों वाले कमरे में मैं सुबह-शाम कोई किताब लेकर बैठा रहता। लेकिन गली-मुहल्ले में खेलने वाले बच्चों का शोर मेरे मन को अस्थिर कर देता था। मैं किताब फेंककर उनके खेल और शोर में शामिल होना चाहता था। मगर खेल में चोट लगने या साथियों से मार खाने का डर मुझे रोके रहता था।

सातवीं जमात में मेरे पिताजी ने मुझे डी० ए० वी० स्कूल में दाखिल कराया। वहां फीस कुछ ज्यादा ली जाती थी। मगर मालूम नहीं पिताजी ने हेडमास्टर को अलग ले जाकर क्या कहा कि उसका दिल पसीज गया और उसने मेरी फीस माफ कर दी।

स्कूल में एक दिन एक मास्टर हमें राष्ट्रीयता और धार्मिक सहिष्णुता पर भाषण देने लगे। उन्होंने कहा कि हिंदू और मुसलमान एक हैं। दोनों में कोई फर्क नहीं है। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए उन्होंने रमेश नाम के एक लड़के से, जिसका पिता नगर का एक प्रसिद्ध व्यापारी था, पूछा कि उसने सुबह क्या खाया है। रमेश ने बताया कि वह दूध के साथ डबलरोटी और मक्खन खाकर आया है। मास्टर ने फिर एक बड़े सरकारी अफसर के बेटे कयूम से भी यही सवाल किया। कयूम ने बताया कि वह भी दूध और बटर-टोस्ट खाकर आया है। तब मास्टर हमें समझाने लगा कि देखो रमेश एक कट्टर आर्यसमाजी का बेटा है और कयूम एक पक्के मुसलमान का लड़का। मगर दोनों का खान-पान एक-जैसा है।

मेरे साथ स्कूल के माली का लड़का कादिर बैठा था। मैंने उससे पूछा कि वह क्या खाकर आया है। वह रात का बचा बासी भात खाकर स्कूल आया था। मैंने भी हरी मिर्चों की चटनी के साथ बासी भात ही खाया था। मास्टर ने सच कहा था कि रमेश और कयूम में, हिंदू और मुसलमान में कोई फर्क नहीं है, कोई खाई नहीं है। मगर मुझे लगा कि यह अधूरा सच है। मुझे बोध हुआ कि कहीं न कहीं कोई खाई जरूर है, जिसके एक किनारे पर रमेश और कयूम तथा दूसरे किनारे पर मैं और कादिर खड़े हैं।

बचपन में ही मुझे एक और बोध हुआ। मैट्रिक की परीक्षा देकर मैं कुछ दिनों तक रोज सुबह शहर के मध्य स्थित हारि पर्वत पहाड़ी की परिक्रमा करके आता था। पहाड़ी के दामन में गणेशजी का मंदिर था। मंदिर में गणेशजी की कोई मूर्ति नहीं थी अपितु पहाड़ी की एक बड़ी-सी चट्टान के ऊपर, जिसका एक हिस्सा विराट सूंड के आकार में उभरा था, सिंदूर पोता गया था।

मंदिर में भक्तजन गणेशजी से प्रार्थना करते थे कि वह उनका दुःख दूर करें, उन्हें दर्शन दें, प्रकट हो जायें। एक दिन मेरे मन में शंका कौंधी कि यदि गणेशजी इनकी प्रार्थना स्वीकार करेंगे तो क्या होगा? वे दर्शन देंगे। प्रकट हो जायेंगे। अर्थात् सिंदूर पुती चट्टान में जान आ जायेगी। वह हिलने-डुलने लगेगी। वह अंगड़ाई लेकर उठ खड़ी होगी जिससे मंदिर

की छत और दीवारें गिर पड़ेंगी। तब इन भक्तों का क्या होगा? ये कुचले जायेंगे या उससे पहले ही भय से इनकी हृदयगति बंद हो जायेगी। लेकिन नहीं, कुछ भी नहीं होगा। ये लोग जानते हैं कि गणेशजी कभी दर्शन नहीं देंगे। पत्थर में कभी जान नहीं आयेगी, इसीलिए ये जोर-जोर से उससे दर्शन देने की प्रार्थना करते हैं। आर्तनाद करते हैं। मुझे लगा कि मैं मूर्ख हूं और इसीलिए मेरे मन में यह शंका जागी। ये सयाने हैं और इसीलिए निश्चित हैं।

किंतु आज भी जब मैं अपने आस-पास ऐसे व्यक्तियों को देखता हूं जो निश्चित हैं कि कुछ भी नहीं होगा। इसके बावजूद, या शायद इसी-लिए जो छद्म क्रांतिकारी बनकर जोर-जोर से चिल्लाते हैं कि कुछ हो, तो मुझे पीड़ा होती है।

मैट्रिक पास करके मैं कॉलेज में पढ़ने लगा। वहां कुछ तरुण प्रोफेसरों ने 'लिटरेरी क्लब' की स्थापना की थी। इस क्लब की ओर से हर शुक्रवार को कॉलेज में साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन होता था। मेरा भी इन लोगों और इन गोष्ठियों से संपर्क हो गया और मैं कहानियां लिखने लगा। फिर कॉलेज से बाहर भी विभिन्न सभाओं में अपनी कहानियां पढ़कर सुनाने लगा। लोग इन कहानियों को पसंद भी करने लगे। अपनी कमजोरी और भीरुता के कारण मैं न चाहते हुए भी अपने साथियों से अलग-थलग रहने पर मजबूर हो गया था। मगर अब नगर के छोटे-बड़े लेखकों के संपर्क में आने से मुझे लगा कि मैं अकेला नहीं, एक बिरादरी का अंग हूं।

१९५४ में मैंने बी० ए० पास किया। नौकरी-पेशा कश्मीरी पंडित संप्रदाय का नौजवान नौकरी ही करना चाहता था। मगर वह मिली नहीं। इस बीच घर की हालत सुधर गयी थी पर बहुत अधिक नहीं। एक लंबे अर्से तक बेकार रहने के बाद पिताजी को आठ-दस वर्ष नौकरी करते हो गये थे। उन्हें सहारे की जरूरत थी। मैं ट्यूशन करने लगा। बी० एड० की ट्रेनिंग करने वाले लड़के-लड़कियों के लिए चार्ट बनाने लगा। आखिर सितंबर १९५४ में मुझे लीव चांस पर शिक्षा निदेशक के दफ्तर में साठ रुपये महीना पर क्लर्की मिल गयी।

यह नौकरी करते कोई दस-बारह दिन हो गये थे कि मुझे एक सूचना मिली। युनिवर्सिटी का कान्वोकेशन दो दिन बाद हो रहा था जिसमें मुझे बी० ए० की डिग्री मिलने वाली थी। एक खास किस्म का काला गाउन (अकेडैमिक रोब) और तरबूजी रंग का साफा पहनकर ही आदमी कान्वोकेशन में शामिल हो सकता था और डिग्री हासिल कर सकता था। औरों की तरह मुझे भी काला गाउन पहनकर तथा तरबूजी रंग का साफा बांधकर चांसलर के हाथ से डिग्री प्राप्त करने का बड़ा चाव था। मैंने हेड क्लर्क से अनुरोध किया कि मुझे दो दिन की छुट्टी दी जाये, ताकि एक दिन मैं पांच रुपये किराया देकर युनिवर्सिटी के दफ्तर से गाउन ले आऊं और दूसरे दिन कान्वोकेशन में शामिल हो सकूं। मगर उसने मेरा अनुरोध अस्वीकार कर दिया। उसने कहा कि जिसकी कुल सर्विस दस-बारह दिन हो, उसे दो दिन की छुट्टी कैसे मिल सकती है? मुझे बड़ा दुःख हुआ पर मैंने अपने दिल को यह कहकर तसल्ली दी कि बन-ठनकर बी० ए० की डिग्री लेने से नौकरी ज्यादा जरूरी है। डिग्री बाद में डाक से भी आ सकती है। मैं अगले दिन भी नियत समय पर दफ्तर आकर काम करने लगा।

कान्वोकेशन तीसरे दिन ग्यारह बजे राजगढ़ में हो रहा था जो मेरे दफ्तर के रास्ते में ही पड़ता था। दस बजे से ही काले गाउनों और रंगीन साफों में सजे लड़के, काले गाउनों और रंगीन दुपट्टों में सजी लड़कियां राजगढ़ की ओर जा रही थीं। खूब चहल-पहल थी। मगर मैं यह फैसला ले चुका था कि इस सस्ती चहल-पहल से नौकरी अधिक कीमती है। मैं यथानियम साढ़े दस बजे दफ्तर पहुंचा। वहां मेरी मुलाकात एक सरदारजी से करायी गयी और मुझे मालूम हो गया कि इसी सरदारजी के लीव चांस में मेरी नियुक्ति हुई थी। अब उसने फिर से ज्वाइन किया था, इसलिए मेरी छुट्टी कर दी गयी। मैं दफ्तर से निकलकर राजगढ़ के पास ही स्थित गांधी पार्क में जाकर लेट गया और लेटे-लेटे ही लाउड-स्पीकर पर कान्वोकेशन की कार्यवाही की अस्पष्ट आवाजें सुनता रहा। जब तक अंधेरा न हुआ, मैं पार्क में ही रहा। दिन के उजाले में मुझे घर लौटने की हिम्मत नहीं हुई।

लगभग छह महीने मैं बेकार रहा। जून १९५५ में मुझे राज्य विधानसभा में सत्तर रुपये पर अनुवादक की अस्थायी नौकरी मिल गयी। और दो महीने बाद श्रीनगर से ३३ मील दूर बारामुल्ला में मेरी स्थायी नौकरी लग गयी। महकमा पब्लिक वर्क्स का था और ग्रेड था : ५०-३-८०।

पब्लिक वर्क्स की नौकरी की अपनी एक अलग अलिखित आचार-संहिता है, यह मैंने धीरे-धीरे जाना। वहां दो तरह के 'श्यडयूल ऑफ रेट्स' होते हैं। एक लिखित और दूसरा अलिखित। लिखित श्यडयूल में विभिन्न निर्माण-कार्यों, जैसे लकड़ी का काम, पत्थर की चिनाई, ईंटों की चिनाई आदि की रेट दर्ज होती है। यह श्यडयूल अहम् नहीं है। अहम् अलिखित श्यडयूल है जिसके अनुसार मिस्तरी से लेकर चीफ इंजीनियर तक सभी कर्मचारियों और अधिकारियों को नियत दर पर 'बिलों' से 'कमीशन' मिलता है। और भी बहुत-सी बातें मालूम हुईं। मसलन यह कि प्रोजेक्ट एस्टीमेटों तथा अन्य कागज-पत्रों पर कोई सड़क जितनी लंबी हो, जरूरी नहीं कि वह वास्तव में भी उतनी ही लंबी हो। उसकी असली लंबाई दो-तीन मील कम भी हो सकती है। या यह कि बाढ़, दैवी प्रकोप ही नहीं, प्रभु का वरदान भी हो सकती है। पब्लिक वर्क्स वालों के लिए लक्ष्मी ही बाढ़ का रूप धारण करके आती है।

१९५८ में मुझे बारामुल्ला से श्रीनगर तबदील किया गया। उसी वर्ष मुझे एम० ए० पढ़ने का शौक हुआ। मैं दो महीने की प्रिविलेज लीव और शेष अवधि के लिए वेतनरहित छुट्टी का आवेदन लेकर डी० ई० साहब के पास गया।

मेरा आवेदनपत्र देखकर साहब हैरान हो गये और उन्होंने हमदर्दी से पूछा कि खैरियत तो है?

मैंने बताया कि मैं एम० ए० करना चाहता हूं।

उन्होंने जिज्ञासा व्यक्त की कि एम० ए० करके मैं क्या बनूंगा?

मैंने इस बारे में कुछ नहीं सोचा था। मैं क्या कहता? उन्होंने जब आग्रह किया तो मैंने कहा कि यदि फर्स्ट क्लास आ जाये तो हो सकता है कहीं लेक्चरर हो जाऊं।

उन्होंने पूछा कि लेक्चरर का कितना वेतन होता है?

उन दिनों लेक्चरर की शुरू में दो सौ रुपये मिलते थे। मैंने बता दिया।

साहब हा-हा करके बहुत देर तक हंसते रहे। फिर उन्होंने मेरी दरख्वास्त को फाड़ डाला। मेरे सिर पर बड़े प्यार से हाथ फेरते हुए उन्होंने मुझे समझाया कि मुझ-जैसे पढ़े-लिखे आदमी को ऐसा मूर्खता का व्यवहार नहीं करना चाहिए। दो सौ रुपये भी कोई वेतन होता है? यदि मैं जरा होशियारी से काम करूं तो उनके दफ्तर में ही, उनकी छत्र-छाया तले महीने में छह-सात सौ रुपये कमा सकता हूं।

लेकिन एक मूर्ख से आप होशियारी की अपेक्षा कर सकते हैं? मैं छुट्टी लेकर ही रहा और एम० ए० में पढ़ने लगा।

मेरी बड़ी बहन की शादी १९५४ में हो चुकी थी। १९५६ में मेरा विवाह हुआ। विवाह से पहले न मैंने अपनी होने वाली पत्नी को देखा था और न उसने मुझे। मगर मुझे अपनी पत्नी से कोई शिकायत नहीं है। उसे शिकायत है या नहीं, यह मैं नहीं जानता।

वेतनरहित छुट्टी लेकर एम० ए० पढ़ने के मेरे फैसले से मेरे बहुत-से रिश्तेदार नाराज हो गये। पिताजी ने तो हंगामा खड़ा किया। घर में मां-बाप और हम दो भाइयों के अतिरिक्त मेरी पत्नी और एक बच्चा भी था। किसी कारणवश दफ्तर में ही पिताजी की आधी तनख्वाह कटती थी। घर मेरे वेतन के सहारे चलता था और मैंने अपने अविवेक से वह सहारा छीन लिया था। पर पत्नी और कुछ मित्रों ने मेरी हिम्मत बंधाई। मैं सुबह-शाम ट्यूशन पढ़ाया करता। दिन में युनिवर्सिटी पढ़ने जाता। रात को देर तक जागकर रेडियो के लिए फीचर और हलकी-फुलकी नाटिकाएं लिखा करता। किसी-किसी दिन युनिवर्सिटी के बदले अदालत में पेश होना पड़ता, क्योंकि उन्हीं दिनों मकान के आधे भाग को रेहन से छुड़ाने के लिए मुकदमा भी लड़ना पड़ा था।

प्रीवियस पास करके मैं फाइनल में आया। नये प्रीवियस में एक-दो लड़के और बाकी सब लड़कियां ही थीं। इनमें से एक लड़की को देखकर उस युवक का मन भी डोल गया जो विवाहित ही नहीं, एक बच्चे का बाप भी था। मगर भीरु स्वभाव का वह युवक कर ही क्या सकता था? उसने एक कहानी लिखी। यह कहानी 'शरद की धूप' राज्य सूचना विभाग की

पत्रिका 'योजना' में जब छपी, तब प्रीवियस वाले फाइनल में आ गये थे और हम एम० ए० पास करके युनिवर्सिटी छोड़ चले थे। कहानी छपने पर बड़ा हंगामा हुआ था। मुझ पर मानहानि का मुकदमा दायर करने की बात भी सोची गयी। पर किसी कारण मुकदमा नहीं चलाया गया और मैं इस मामले में भी चर्चित होने के सौभाग्य से वंचित रह गया।

एम० ए० की पढ़ाई पूरी करके मैं फिर पब्लिक वर्क्स के दफ्तर में अपनी पोस्ट पर काम करने चला गया। मेरी गैरहाजिरी में मेरी सब डिविजनल क्लर्क की पोस्ट किसी और को दे दी गयी थी। दफ्तर में उस समय डिस्पैचर की जगह खाली थी और मैं बराबर एक साल तक राज्य के पब्लिक वर्क्स महकमे के श्रीनगर रोड्स डिवीज़न में डिस्पैचर का काम करता रहा।

सितंबर १९६१ में आरजी तौर पर लेक्चरर के रूप में मेरी नियुक्ति श्रीनगर से पौने दो सौ मील दूर भद्रवाह के गवर्नमेंट कॉलेज में हुई। मैंने पुरानी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। जनवरी १९६२ में पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा कन्फर्म होने तक मुझे कोई तनख्वाह नहीं मिली। इन महीनों में मैं बनिये से चावल से लेकर सिगरेट तक उधार लेता रहा और मजे से उस मनोरम घाटी में बीवी-बच्चे सहित अपने दिन गुजारता रहा।

१९६३ में भद्रवाह से मेरी तबदीली सोपुर हो गयी। १९६६ में सोपुर से श्रीनगर आ गया। तब से श्रीनगर में ही हूं। केवल १९७५ में दो महीनों के लिए मेरा तबादला फिर सोपुर किया गया। सरकारी आदेश में लिखा था कि यह तबादला प्रशासन के हित में, इन 'दि इंटरेस्ट्स ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन' हो रहा है। परंतु बात वास्तव में कुछ और थी। रेडियो कश्मीर से मेरा एक नाटक प्रसारित हुआ था। कॉलेजों में अध्यापकों द्वारा प्राइवेट ट्यूशनों का जो रैकट चलाया जा रहा है, नाटक में उसकी भी थोड़ी-बहुत झलक मिलती थी। मेरे सहयोगी अध्यापक मुझसे नाराज हो गये थे और उन्होंने अधिकारियों से मिलकर मुझे मेरी धृष्टता का मजा चखाया था। श्रीनगर वापस आने पर भी मेरे अधिकांश

सहयोगियों ने मुझसे बोलना छोड़ दिया। कॉलेज [illegible]ापकों की बिरादरी में मुझे अछूत समझा जाने लगा।

इधर मैंने दस-पन्द्रह हज़ार रुपये खर्च करके अपने पुराने मकान को थोड़ा-बहुत रहने के काबिल बनाया है। मगर है तो वही घर, वही शहर और वही कश्मीर।

कश्मीर की मनोरम घाटी में रहता हूं। इसलिए मुझसे ईर्ष्या करने की बिलकुल जरूरत नहीं है। मुझे यहां एक अजीब-सी घुटन का एहसास होता है। ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों से घिरी यह धरती मुझे एक बहुत बड़ा कैद-खाना लगती है। पहाड़ों ने यहां आकाश की असीमता को भी सीमित कर दिया है। कभी-कभी लगता है कि मेरी दृष्टि को, मेरी कल्पना को थोड़ा-सा आकाश ही नसीब हुआ है।

बहुत बार इच्छा होती है कि इस घाटी से भागकर दिल्ली, बंबई आदि महानगरों में खुले आकाश के नीचे अपने लिए कोई राह तलाश करूं। मगर स्वभावगत भीरुता कोई जोखिम उठाने नहीं देती। मालूम नहीं लेखन में यह भीरुता कहां चली जाती है। मेरे कई मित्र कहते हैं कि मुझे शुक्रगुजार होना चाहिए कि सरकारी अफसरें और नेता लोग कश्मीरी साहित्य नहीं पढ़ते हैं। अगर पढ़ते होते तो मैं कई वर्षों से जेल में पड़ा सड़ रहा होता। ●

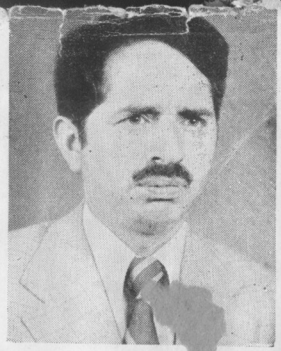

हरिकृष्ण कौल

जन्म : २२ जुलाई, १९३४, श्रीनगर, कश्मीर।

कश्मीरी के साथ-साथ हिन्दी में भी लेखन। हिन्दी में प्रकाशित अन्य [illegible]नाएं हैं—'इस हम्माम में' (कहानी-संग्रह), 'टोकरी भर धूप' (कहानी-संग्रह), 'हिन्दी गद्य-गरिमा' (सम्पादन), 'छाया' (अनुवाद)। 'रेणु का कथा-शिल्प' (आलोचना) प्रकाशनाधीन। सन् १९६१ से जम्मू-कश्मीर राज्य के विभिन्न सरकारी कॉलेजों में अध्यापन। सम्प्रति जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के भारतीय भाषा केन्द्र में टीचर-फेलो के रूप में कार्यरत।

स्थायी पता : ९९/१, जैन्दार मुहल्ला, श्रीनगर, कश्मीर-१९०००१